क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?

क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?

आचार्य तुलसी

प्राथमिकी

बुद्धि और श्रद्धा की दिशाए सर्वथा भिन्न है, ऐसा कुछ लोगों का अभिमत है। उनका चिन्तन है कि बुद्धिमान् व्यक्ति श्रद्धालु नही हो सकता और श्रद्धा के साथ बुद्धि का अवस्थान नही हो सकता। धर्म को देखने के लिए श्रद्धा की आख चाहिए। बुद्धि की आख कभी धर्म को नही पहचान सकती। इसी अवधारणा के आधार पर धर्म और विज्ञान को एक दिशागामी होकर आगे बढ़ने का अवसर नही मिला।

क्या धर्म बुद्धिगम्य है? यह प्रश्न उन लोगो के लिए अधिक महत्त्व का नही है, जो धर्म की साधना मे सलग्न है और उसकी रसानुभूति कर चुके हें। जिन लोगो को धर्म की साधना का अवसर नही मिला अथवा जिन्होने धारणा का चोगा उतारकर इस सम्वन्ध में विचार नही किया, वे इस वात को सुनकर अवश्य विस्मित होगे कि धर्म भी बुद्धि का विषय हे।

साधना और बुद्धि मे दूरी है। साधना के परिपार्श्व में सिद्धान्त वनते हैं। बुद्धि उन सिद्धान्तों को ऊचाई तक पहुंचाने से पहले ही थककर अपना भाग्य श्रद्धा के हाथों सौंप देती है। इसीलिए धर्म के साथ श्रद्धा का अनुवध जोडा जाता है। यह वहुत वड़ा सत्य है। पर वे लोग इस सत्य को कैसे समझ सकते हे, जो श्रद्धा से खाली है। उनके लिए तो यही प्रश्न महत्त्व का है कि क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?

धर्म बुद्धिगम्य है, यह वात शत-प्रतिशत सही नही है तो यह वात भी शत-प्रतिशत सही नही है कि धर्म बुद्धिगम्य नही है। इन दो छोरों के वीच मे प्राप्त होने वाला तथ्य यह है कि धर्म बुद्धि से सर्वथा गम्य नही है तो सर्वथा अगम्य भी नही है। बुद्धि की अपनी सीमाएं है और धर्म की अपनी सीमाएं है। अपनी सीमाओ मे बुद्धि धर्म को जानती है, [illegible]

है और उसका उपयोग भी करती है।

धर्म से केवल परलोक ही सुधरता और केवल आत्मा की अगम्य वृत्तियां ही विकसित होती तो वह बुद्धि से अगम्य रहता। उस धर्म में वे ही लोग विश्वास करते जो श्रद्धाशील होते। किन्तु धर्म से इहलोक भी सुधरता है और आत्मा की गम्य वृत्तियां भी विकसित होती है, इसलिए यह बुद्धिगम्य है। मेरी तो यह आस्था है कि जो धर्म मनुष्य के वर्तमान जीवन को समुन्नत नही बना सकता, उससे परलोक सुधरने की आशा ही कैसे की जा सकती है?

मनुष्य भूख लगने पर भोजन करता है। भोजन करते समय भूख शान्त नहीं होगी तो उससे भविष्य में भूख-शमन का आश्वासन कैसे मिलेगा? जिसके जीवन मे धर्म है, उसे इसी जन्म में मोक्ष का अनुभव होना चाहिए। जिस धर्म से इस जन्म मे मोक्ष का अनुभव नही होगा, उस धर्म से भविष्य में मोक्ष-प्राप्ति की कल्पना का क्या आधार होगा?

धर्म आलोक है और अधर्म अन्धकार है। धर्म शान्ति है और अधर्म अशान्ति है। धर्म समता है और अधर्म विषमता है। ये ऐसे तथ्य है, जिनको जितना श्रद्धा से समझा जा सकता है, उतना ही बुद्धि से जाना जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है दृष्टिकोण का सम्यक्त्व। सही दृष्टि से देखा जाए और सही विन्दु पर विचार किया जाए तो वे लोग धर्म से अधिक लाभान्वित हो सकते हैं, जो बुद्धिवाद के रंग मे रगे हुए है।

धर्म के दो रूप है—उपासना और चरित्र। बुद्धिवाद की कसौटी पर उपासना का तत्त्व विप्रतिपत्ति उपस्थित कर सकता है पर चरित्र को अस्वीकार करने का प्रश्न ही नही उठता। जीवन में चरित्र की प्रतिष्ठा ही धर्म का सक्रिय स्वरूप है। इस स्वरूप को व्यापकता देने के लिए अणुव्रत की वात सामने आयी। अणुव्रत के सिद्धान्तों को जीवनगत करने का उपक्रम है प्रेक्षाध्यान। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान को समझने वाला धर्म को अच्छी तरह समझ सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

धर्म के सम्वन्ध मे समय-समय पर जो कुछ कहा या लिखा उसका संकलन कर लिया गया। भारतीय ज्ञानपीठ ने 'क्या धर्म बुद्धिगम्य है?' इस नाम से संकलित सामग्री को प्रकाशित कर दिया। पुस्तक पाठको के हाथो मे गई और देखते-देखते इसके दो सस्करण समाप्त हो गए। विगत

कई वर्षों से पुस्तक अनुपलब्ध थी। अब वह नये परिवेश तथा नवीन सामग्री के साथ अपने पाठको के पास पहुंच रही है। पाठक इसे पढ़ें और अपनी धर्म विषयक धारणा को स्पष्ट करे।

श्रीडूंगरगढ़ आचार्य तुलसी

१ नवम्बर, १९८८

अनुक्रम

क्या धर्म बुद्धिगम्य है?

कहा जाता है कि धर्म श्रद्धागम्य है। वह बुद्धिगम्य नही हो सकता। किन्तु यह अधूरा सच है। धर्म केवल श्रद्धागम्य ही नही है। वह बुद्धिगम्य भी है। श्रद्धा उसी को पकडती है जो पहले बुद्धि की पकड़ मे आ जाता है। धर्म नितान्त परोक्ष नही है। वह प्रत्यक्ष भी है। जो धर्म का साक्षात् नही करता, वह शायद उसे जानता भी नही और सही अर्थ में मानता भी नही। हम धर्म का साक्षात् करके ही धार्मिक बन सकते है।

कुछ लोग मानते है कि धर्म का फल परलोक मे मिलेगा। मिलता होगा, मै नही जानता। किन्तु जिसका इस लोक मे कोई फल नही, उसका फल परलोक मे कैसे मिलेगा? भविष्य कभी भी वर्तमान की उपेक्षा नहीं करता। हम वर्तमान को उज्ज्वल बनाकर ही भविष्य को उज्ज्वल बना सकते है। धर्म का फल क्या है? यह सम्पदा और ऐश्वर्य जो है वह धर्म का फल नही है, यह परिश्रम का फल है, अपने-अपने कृत-कर्मो का फल है। पर धर्म का फल नही है। धर्म का फल है पवित्रता, धर्म का फल है सहिष्णुता और धर्म का फल है प्रकाश। अशान्ति मे से जो आदमी शान्ति को ढूंढ निकालता है, अपवित्रता मे से जो पवित्रता को ढूंढ़ निकालता है, असन्तुलन मे से जो सहिष्णुता को ढूढ निकालता है और अन्धकार मे से प्रकाश को ढूढ निकालता है, वह धार्मिक है, उसे धर्म का फल प्राप्त है। उसके हाथ मे वर्तमान भी है और भविष्य भी।

मै धर्म को नितान्त आस्थावाद मानता हू। परिस्थितिवाद के साथ जूझने मे उसके समान प्रबल आस्थावादी कोई तत्त्व नही है। भौतिकवादी की सर्वाधिक दुर्बलता यही है कि वह विशुद्ध परिस्थितिवादी है। परिस्थिति के व्यूह को तोड़कर स्वय स्फुरित होने वाला स्वतन्त्र कर्तृत्व या

चैतन्य उसकी कल्पना में नही है। इसीलिए भौतिकवादी धर्म की ओर झांकता भी नहीं है।

अध्यात्मवाद का प्रमुख तत्त्व है चैतन्य। परिस्थिति से घिरा होने पर भी वह स्वतन्त्र है। उसका स्वतन्त्र कर्तृत्व है। उसकी स्वतन्त्रता का अजस्र स्रोत ही धर्म है। उसकी जितनी परतन्त्रता है, वह अधर्म है। धर्म जैसे साधारणतया माना जाता है, वैसे बाहरी तत्त्व नही है यानी भौतिक जगत् मे इसका प्रवेश नहीं। यह व्यक्ति की आन्तरिक वृत्तियां हैं। आत्मा जब परिस्थिति से पराजित नही होती तब उसमें स्वतन्त्रता का विकास होता है यानी धर्म का विकास होता है और जब वह परिस्थिति के सामने घुटने टेक देती है तब उसमे परतन्त्रता का उदय होता है।

आदमी जितना अकृत्य करता है, वह सब परिस्थिति से पराजित होकर ही करता है। यदि वह परिस्थिति पर विजय पाना सीख ले तो अकृत्य स्वयं समाप्त हो जाये। धर्म की शिक्षा का अर्थ यही है—परिस्थति पर विजय पाने की शिक्षा। अनुशासनहीनता इसीलिए पनप रही है कि उसे परिस्थति को जीतने की बात नहीं सिखायी जाती। अप्रिय घटनाओं, अनिष्ट संयोगों एवं कठिन परिस्थितियों पर विजय पाने को अपना धर्म मानने वाला ही अनुशासित रह सकता है। जो ऐसा नही मानता वह प्रतिकूल सयोगो से उच्छृंखल बन जाता है। आज के शिक्षाशास्त्री लक्ष्य-हीनता उत्पन्न कर अनुशासन को बनाये रखना चाहते हैं, यह कोरा भ्रम-जाल है।

धर्म का पहला सूत्र है आस्था। आस्थावान् अपने लक्ष्य से कभी विचलित नही होता। उसमे जैसे-जैसे आस्था प्रवल होती है, वैसे-वैसे वह ज्ञान और चरित्र का विशेप अधिकार पाता है। जिसे अपने आप मे आस्था नही होती, वह सदा लडखडाये चलता है। यह आस्था किसी व्यक्ति को निसर्ग से प्राप्त होती है और कोई व्यक्ति इसे ज्ञान द्वारा प्राप्त करता है। नैतिक या चारित्रिक नियमों के प्रति जो धार्मिक माध्यम से आस्था वनती है, वह अपरिहार्य होती है। उसमें फिसलन नही होती या आपवादिक ही होती है। अकर्तव्य के प्रति जो पश्चात्ताप का भाव है, वह धर्म-वुद्धि की ही देन है। धर्म उसी व्यक्ति में ही नही होता जो अपने आप को धार्मिक मानता है। कई वार ऐसा भी होता है कि जो अपने

आपको अधार्मिक मानता है, उसमे भी धर्म प्रखर हो उठता है। धर्म चेतना की ऐसी सहजता है कि अधार्मिक होकर कोई व्यक्ति जी ही नही सकता। एक आदमी उद्देश्यपूर्वक धर्म की आराधना करता है तो उसे आत्म-शान्ति प्रवल रूप मे मिलती है। एक आदमी उद्देश्य के विना सहज भाव से जाने-अनजाने धर्म की आराधना करता है तो उसे आत्म-शान्ति क्षीण रूप मे मिलती है। यह सहजता है कि कोई भी आदमी निरन्तर हिंसा कर ही नही सकता और निरन्तर झूठ वोल ही नही सकता। किन्तु आत्म-विश्वास के उद्देश्य से जो हिसा नहीं करता और झूठ नही बोलता उसे जो शक्ति प्राप्त होती है, वह शक्ति उस व्यक्ति को प्राप्त नही होती, जो सहज भाव मे अहिसा और सत्य का पालन करता है। फिर भी यह निश्चित है कि ससार मे ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो केवल धार्मिक ही हो या केवल अधार्मिक ही हो। धर्म के वातावरण मे रहने वालो मे भी हजारो क्रोधी और दम्भी है तथा उससे दूर रहने वालो मे भी हजारो शान्त ओर सरल वृत्ति के लोग है। इसीलिए मै मानता हू कि धर्म और सम्प्रदाय एक नही है।

कुछ विचारक लोग ऐसा कहते हैं कि अव धर्म का युग चला गया, अव अध्यात्म का युग हे। पर मै तो धर्म और अध्यात्म को एक ही मानता हूं। मेरी भाषा मे धर्म वही है, जो आत्मा की अन्त·स्फूर्त पवित्रता हे। अध्यात्म भी वही है। कोई भी क्रियाकाण्ड इस पवित्रता से अस्पृष्ट रहकर धर्म नही हो सकता। हम वहुत वार धर्म के निमित्त कारणो को भी धर्म कह देते हे। किन्तु वस्तुत· उन्हे साम्प्रदायिक विधि-विधान कहना चाहिए, शाश्वत धर्म नही। शाश्वत धर्म जो है, वह सवके लिए, सव स्थितियो मे, सदा, सर्वथा एक ही हो सकता है। इसीलिए उसमे व्यक्ति, जाति, वर्ग, राष्ट्र, वर्ण, लिग, देश और काल का कोई अन्तर नही हो सकता है। मनुष्य मे धर्म-भावना जितनी दुर्वल होती है उसमे भेद-बुद्धि उतनी ही प्रवल होती है। जातीयता के कारण हिन्दू और मुसलमान और वर्ण-भेद के कारण काले और गोरे इस प्रकार विभक्त हो गये है कि उनकी मानवीय एकता भेद-बुद्धि के नीचे दव-सी गयी है। रूसी भी आदमी है और अमेरिकन भी आदमी है। पर राष्ट्रीय संकीर्णता के कारण उनकी यह बुद्धि आहत-सी हो गयी है कि मनुष्य-मनुष्य एक है।

यह सारा भेद अधर्म, अनध्यात्म से प्राप्त होता है। इस संकट का एकमात्र प्रतिकार अध्यात्म या धर्म ही है। इस तथ्य को बुद्धिगम्य किये बिना सारा बुद्धिवाद खतरे में पड जायेगा।

धर्म का अर्थ है विभाजन का अन्त

आज धर्म और कर्म की समस्या बड़ी जटिल हो रही है। कर्म इतना बढ़ रहा है जितना आवश्यक नहीं है। धर्म इतना क्षीण हो रहा है जितना नही होना चाहिए। औद्योगिक युग है। उद्योग कर्म पर टिके हुए है। कर्म बढ़ता है तो बढ़ता है, पर धर्म को क्षीण क्यो होना चाहिए? कर्म उसका विरोधी नहीं है। वह तो उसका पोषक है। कर्म बढ़ता है, तब धर्म की अपेक्षा अधिक अनुभूत होती है।

फिर प्रश्न होता है—धर्म क्षीण क्यो हो रहा है? अपनी दृष्टि से कहूं तो यही कह सकता हूं कि धर्म क्षीण नहीं हो रहा है। क्षीण हो रहा है साम्प्रदायिक आग्रह, अभिनिवेश और संकीर्ण मनोभाव, जो धर्म था ही नहीं। जब ही धर्म सम्प्रदाय मे अटक गया तब से ही गतिहीन हो गया। बहुत धार्मिक ऐसे है जो धर्म के नाम पर कुछ और ही कमाते है। धर्म की आराधना के लिए सम्प्रदाय बने। धर्म प्रधान रहा और सम्प्रदाय गौण। काल-परिपाक से उलटा हो गया—सम्प्रदाय प्रधान हो गये, धर्म गौण। धर्म का सन्देश था—प्रेम, मैत्री और समता। सम्प्रदायो मे विकसित हुए—वैर, विरोध और विषमता। धर्म का सन्देश था—तुम सब समान हो या एक हो क्योकि तुम सब एक ही या एक-जैसे ही चैतन्य से अभिन्न हो। सम्प्रदाय से फलित हुआ—तुम सब अलग-अलग हो, क्योंकि तुम्हारा धर्म भिन्न-भिन्न है। तुम जैन हो, तुम शैव हो, तुम वैष्णव हो और तुम बौद्ध हो आदि-आदि। धर्म का उद्देश्य था—सब अविभक्त हों। सम्प्रदाय का उद्देश्य हो गया विभक्तीकरण।

आज समूची मनुष्य जाति संख्या मे बटी हुई है—इतने करोड़ ईसाई हैं, इतने करोड़ बौद्ध है, इतने करोड़ हिन्दू है, इतने करोड़ मुसलमान है और इतने जैन आदि-आदि। भौगोलिक सीमा, जाति आदि ने मनुष्य-जाति

यह सारा भेद अधर्म, अनध्यात्म से प्राप्त होता है। इस सकट का एकमात्र प्रतिकार अध्यात्म या धर्म ही है। इस तथ्य को बुद्धिगम्य किये बिना सारा बुद्धिवाद खतरे में पड़ जायेगा।

धर्म का अर्थ है विभाजन का अन्त

आज धर्म और कर्म की समस्या बडी जटिल हो रही है। कर्म इतना बढ़ रहा है जितना आवश्यक नही है। धर्म इतना क्षीण हो रहा है जितना नही होना चाहिए। औद्योगिक युग है। उद्योग कर्म पर टिके हुए हैं। कर्म बढता है तो बढता है, पर धर्म को क्षीण क्यों होना चाहिए? कर्म उसका विरोधी नही है। वह तो उसका पोषक है। कर्म बढ़ता है, तब धर्म की अपेक्षा अधिक अनुभूत होती है।

फिर प्रश्न होता है—धर्म क्षीण क्यो हो रहा है? अपनी दृष्टि से कहूं तो यही कह सकता हूं कि धर्म क्षीण नही हो रहा है। क्षीण हो रहा है साम्प्रदायिक आग्रह, अभिनिवेश और सकीर्ण मनोभाव, जो धर्म था ही नही। जव ही धर्म सम्प्रदाय मे अटक गया तब से ही गतिहीन हो गया। बहुत धार्मिक ऐसे है जो धर्म के नाम पर कुछ और ही कमाते है। धर्म की आराधना के लिए सम्प्रदाय बने। धर्म प्रधान रहा और सम्प्रदाय गौण। काल-परिपाक से उलटा हो गया—सम्प्रदाय प्रधान हो गये, धर्म गौण। धर्म का सन्देश था—प्रेम, मैत्री और समता। सम्प्रदायों मे विकसित हुए—वैर, विरोध और विषमता। धर्म का सन्देश था—तुम सव समान हो या एक हो क्योकि तुम सव एक ही या एक-जैसे ही चैतन्य से अभिन्न हो। सम्प्रदाय से फलित हुआ—तुम सब अलग-अलग हो, क्योकि तुम्हारा धर्म भिन्न-भिन्न है। तुम जैन हो, तुम शैव हो, तुम वैष्णव हो और तुम वौद्ध हो आदि-आदि। धर्म का उद्देश्य था—सव अविभक्त हो। सम्प्रदाय का उद्देश्य हो गया विभक्तीकरण।

आज समूची मनुष्य जाति संख्या मे वंटी हुई है—इतने करोड ईसाई हैं, इतने करोड बौद्ध है, इतने करोड़ हिन्दू हैं, इतने करोड मुसलमान है और इतने जैन आदि-आदि। भौगोलिक सीमा, जाति आदि ने मनुष्य-जाति

को बांटा तो उनका आधार भौतिक था इसलिए उन्हें दोष नही दिया जा सकता। पर धर्म-सम्प्रदाय ही मनुष्य-जाति को विभक्त कर डाले, वह अक्षम्य है। उसका आधार ही समता या एकता है। मैं सम्प्रदायों या सस्थानों को अनुपयोगी नही मानता किन्तु उनमें जो अनुपयोगी तत्त्व आ घुसे है, उन्हें हेय मानता हू और उनका परिमार्जन आज की स्थिति की अनिवार्य मांग है। हिन्दुस्तान संघर्ष के बादलो के नीचे है। उनसे उन्मुख कोई भी देश नहीं कहा जा सकता। कर्म से मनुष्य इतना दब गया है कि वह मानवीय एकता को चाहते हुए भी कर नहीं पा रहा है। उसका एकमात्र साधन धर्म है और वह धर्म, जहां सम्प्रदाय गौण हो और धर्म प्रधान। इस धर्म की आराधना से ही मनुष्य-जाति अविभक्त हो सकती है।

धर्म गौण इसलिए बनता है कि लोग अपने माने हुए प्रभु की उपासना करते हैं, पर अपने मे विराजे हुए प्रभु की आराधना नही करते। माने हुए प्रभु की उपासना करने से श्रद्धा का केन्द्र पुष्ट होता है पर अपने प्रभु की महानता को जमाने का यथेष्ट यत्न नही होता, आश्रय प्रधान हो जाता है, करणीय गौण। इसी का अर्थ है सम्प्रदाय प्रधान और धर्म गौण।

जितना बल उपासना पर दिया जाता है, उससे अधिक बल यदि क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, अकिंचन और ब्रह्मचर्य पर दिया जाये तो धर्म प्रधान हो सकता है और सम्प्रदाय गौण।

१. धार्मिक वह हो सकता है, जो सहिष्णु हो। असहिष्णुता से विभाजन होता है, एकीकरण नही।
२. धार्मिक वह हो सकता है, जो मृदु हो—जाति, कुल, विद्या, ऐश्वर्य आदि से हीन लोगो का तिरस्कार न करे। मद से विभाजन होता है, एकीकरग नही।
३. धार्मिक वह हो सकता है, जो ऋजु हो—कपटपूर्ण व्यवहार से विभाजन होता है, एकीकरण नही।
४ धार्मिक वह हो सकता है, जो अर्थ-लोलुप न हो। अर्थ-लोलुपता से विभाजन होता है, एकीकरण नही।

५. धार्मिक वह हो सकता है, जो सत्यभाषी हो। असत्य से विभाजन होता है, एकीकरण नही।
६. धार्मिक वह हो सकता है, जो सयमी हो, असयम से विभाजन होता है, एकीकरण नहीं
७. धार्मिक वह हो सकता है, जो सत्प्रवृत्ति-परायण हो। असत् प्रवृत्ति से विभाजन होता है, एकीकरण नहीं।
८. धार्मिक वह हो सकता है, जो त्यागशील हो। संग्रह से विभाजन होता है, एकीकरण नही।
६. धार्मिक वह हो सकता है, जो अकिचन हो—शरीर के प्रति अनासक्त हो। आसक्ति से विभाजन होता है, एकीकरण नही।
१०. धार्मिक वह हो सकता है, जो ब्रह्मचारी हो—इन्द्रियविजेता हो। इन्द्रिय-लोलुपता से विभाजन होता है, एकीकरण नही।

इनके अभ्यास से कर्म का दोष धुलता है और अनेकता एकता मे बदलती है जिसकी आज बहुत बड़ी अपेक्षा है।

धर्म और वैयक्तिक स्वतन्त्रता

मै धर्म को जीवन के लिए बहुत आवश्यक मानता हूं। वह सारी सुख-शान्ति का सर्वोच्च हेतु है। सुख-शान्ति का अनुभव स्वतन्त्र वातावरण मे ही हो सकता है। हम दूसरे राष्ट्र या दूसरी जाति से ही परतन्त्र नहीं होते, किन्तु अपनी मिथ्या मान्यता और अपने आवेगो से भी परतन्त्र होते है।

हमारी वैयक्तिक स्वतन्त्रता उतनी ही सुरक्षित होगी, जितने हम धार्मिक होगे। धर्म से हमे आत्मानुशासन प्राप्त होता है और वह हमारी स्वतन्त्रता का मूल मन्त्र है।

हर सामाजिक मनुष्य भौतिकता और आध्यात्मिकता के संगम मे जीता है। भौतिकता जीवन की अपेक्षा है, उसे छोडा नही जा सकता। पर वह जीवन का ध्येय नहीं है और होना भी नहीं चाहिए। आध्यात्मिकता जीवन-निर्वाह की अपेक्षा नही है। पर वह हमारा ध्येय है। हम उस ओर चलते है, तव भौतिकता खतरनाक नही बनती।

सभी देशो और कालों मे आध्यात्मिकता का विकास हुआ है। सभी धर्मो ने न्यूनाधिक मात्रा मे उसे महत्त्व दिया है। इसीलिए हर धर्म मे अहिसा, सत्य और अपरिग्रह की चर्चा मिलती है।

साम्प्रदायिकता, रग-भेद, जातीयता, प्रान्तीयता, राष्ट्रीयता, भापावाद आदि दोप, जिनसे मनुप्य-जाति विभक्त है, तब तक नही होगे, जव तक धर्म जीवन मे नही आयेगा।

अणुव्रत-आन्दोलन इस वात पर वहुत वल देता है कि धर्म उपासना-काल मे ही नही, जीवन के हर व्यवहार मे होना चाहिए। मनुप्य का व्यवहार नैतिकता से और नैतिकता आध्यात्मिकता से प्रभावित होनी चाहिए।

अणुव्रत-आन्दोलन मानवीय एकता और जीवन की पवित्रता के आधार पर चल रहा है। जिस दिन मनुष्य-जाति यह अनुभव करने लगेगी कि कृत्रिम भेदो के होने पर भी हम सब एक है, समान अनुभूतिशील हैं, उस दिन असदाचार अपने आप समाप्त हो जायेगा। मैं चाहता हूं यह भावना सब लोगो तक पहुंचे, उनमे अमेरिकावासी भी साथ है। मैं इस तथ्य को बहुत गहराई से अनुभव करता हूं कि अमेरिकी लोग बहुत स्वतन्त्रताप्रिय हैं। राष्ट्रपति कैनेडी एवं जॉनसन ने स्वतन्त्रता के लिए अनेक प्रयत्न किये है और मनुष्य-जाति की एकता के लिए भी उनके प्रयत्न बहुत मूल्यवान् है। निःशस्त्रीकरण की दिशा मे भी अमेरिकी प्रयत्नो का महत्त्व अस्वीकार नही किया जा सकता।

अमेरिकी राजदूत चेस्टर बोल्स, प्रो॰ नॉर्मन ब्राउन आदि अनेक लोग मुझसे मिले हैं। मैंने उनमे हमेशा शन्ति, सद्भावना और समन्वय की ओर झुकाव पाया है।

मैं अमेरिकावासियों से भी यही कहना चाहता हूं कि वे एक सम्पन्न राष्ट्र के नागरिक है, उनके हाथ में सम्पदा, शक्ति और सरस्वती—तीनो का सुन्दर सुयोग है। इसलिए उनका हर प्रयत्न विश्व-शान्ति और सद्भावना की वृद्धि के लिए होना चाहिए। मनुष्य-जाति के प्रति उनका जो दायित्व है, उसे उन्हे सदा स्मृति में रखना है।

अणुव्रत-आन्दोलन के साथ मैत्री-दिवस मनाने की भी आयोजना हो। वह दिवस अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया जाये तो वर्तमान तनाव को कम करने का एक माध्यम बन सकता है।

मैने अपने लिए जैन-धर्म की साधना-पद्धति को चुना है। वह मुझे इसलिए पसन्द है कि वह अपने द्वारा आप पर विजय पाने का मार्ग है। इससे मनुष्य को अपने स्वतन्त्र अस्तित्व और कर्तृत्व में विश्वास प्राप्त होता है।

जैन-धर्म अनेकान्त दृष्टि को बहुत महत्त्व देता है। उससे हमें बौद्धिक आग्रह से वचने की दृष्टि प्राप्त होती है। अनाग्रह सत्य के निकट पहुंचने का सरलतम उपाय है।

अणुव्रत-आन्दोलन मे जो व्यापकता आयी है उसका श्रेय मुझे जैन-धर्म की उदार विचारधारा को देना चाहिए। हर व्यक्ति धर्म करने का

अधिकारी है और किसी भी सम्प्रदाय में रहने वाला व्यक्ति धर्म की आराधना कर सकता है। धर्म अहिसा है, जैन या बौद्ध आदि नही। इस कोटि के विचारों से ही मुझे आन्दोलन के संचालन में बल मिला है और मैं आशा करता हूं कि हम सब समान ज्योति से प्रज्वलित है। अतः असमानता को दूर कर मानव की मौलिक एकता को विकसित करेंगे।

उपासना के सर्व-सामान्य सूत्र

जितने धर्म-सम्प्रदाय हैं उतनी ही उपासना की विधियां है। अणुव्रत-आन्दोलन कोई धर्म-सम्प्रदाय नही है। यह धर्म की सर्व-सामान्य भूमिका है। इसकी उपासना-विधि भी सर्व-सामान्य है। इसका उपास्य कोई व्यक्ति नही है। इसके उपास्य हैं व्रत। वे व्रत, जो जीवन की विशृखलता के लिए अंकुश का काम करते है। अणुव्रती का उपासना-मन्त्र है—'अहमेव मयोपास्यः'—अपने लिए मै ही उपास्य हूं। इसके उपासना सूत्र है—१ आत्म-चिन्तन, २. आत्म-निरीक्षण, ३. क्षमा-याचना, ४. खाद्य-संयम या उपवास, ५. आलोचना या प्रायश्चित्त।

वुद्धिवादी युग है। चिन्तन की कोई कमी नहीं। पर वह होता है पदार्थ को समझने के लिए, उसे बदलने के लिए, जब कि होना चाहिए अपने आपको समझने के लिए। जो केवल दूसरो के वारे में सोचता है, वह दूसरो की उपासना करता है, अपनी नही।

उपासना का अर्थ सिमट गया है। आज अधिकाश मे पूजा और अर्चना ही उपासना वन गयी है। उपासना का क्षेत्र धर्म-स्थान ही रह गया है। वासना को नष्ट करने की उपासना नगण्य-सी है। इसी मे से प्रश्न होता है—

'धर्म केवल उपासना का तत्त्व क्यों बना?
जव कि जीवन मे वासना का तत्त्व छना।'

किसी व्यक्ति या इष्ट की अर्चना का महत्त्व तभी हो सकता है, जव हम उसकी आज्ञा का पालन करे। उसकी कोरी अर्चना का क्या मूल्य है? आचार्य ने कहा—वीतराग! तुम्हारी अर्चना की अपेक्षा तुम्हारी आज्ञा का पालन अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसकी आराधना कल्याण के लिए होती है

और उसकी विराधना अकल्याण के लिए। तुम्हारी आज्ञा यही है कि हेय को त्यागा जाये और उपादेय को अंगीकार किया जाये।

हेय का ज्ञान ही कैसे हो, जब आत्म-निरीक्षण नही होता। मनुष्य जितना करता है, वह सब उपादेय नहीं है और जो नही करता, वह सब हेय नहीं है। इसका विवेक आत्म-निरीक्षण से ही मिल सकता है। मैंने क्या किया, मुझे क्या करना है और वह क्या कार्य है जो मै कर सकता हू, पर नहीं कर रहा हूं—इस विशाल दृष्टि से जो अपने को देखता है, वही चक्षुष्मान् उपासक है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जिससे कभी भूल न हो मनुष्य मोह में फंसा हुआ होता है, वह किसी को प्रिय मानता है, किसी को अप्रिय। किसी को प्रिय या अप्रिय मानने का अर्थ है—मानसिक विकास की अपूर्णता। परिपूर्णता की स्थिति मे भूल नहीं होती, पर अपूर्णता मे भूल होना बहुत सम्भव है। जो आत्म-निरीक्षण नहीं करता, वह दूसरों की भूल को देखने में बहुत ही सूक्ष्म-दृष्टि होता है और सिद्धहस्त होता है अपनी भूलो के साथ आख-मिचौनी खेलने मे। अपनी भूलो की अनुभूति उसी को होती है, जिसमें अपने आपको देखने की क्षमता हो। जिसे अपनी भूलो की अनुभूति ही न हो, वह उनकी आलोचना क्या करेगा? जो अपनी आलोचना करता है, उसे दूसरो की आलोचना करने मे बहुत कम रस रहता है या नही भी रहता । अपने लिए असद् व्यवहार को जो समझ लेता है, वह उसके लिए क्षमा माग सकता है। क्षमा मागना सचमुच ही अमृत की धार बहाना है। इससे विप ही नहीं धुलता, मैत्री का महान् प्रवाह भी चल पडता है। इसी व्रत की उपासना के लिए अणुव्रत-आन्दोलन के साथ मैत्री-दिवस जुडा हुआ है। मैत्री और अहिसा दो तत्त्व नही हैं। मैत्री के विना अहिसा नहीं होती और अहिसा के बिना मैत्री का कोई अर्थ नही होता। अहिंसा-दिवस भी अणुव्रत-आन्दोलन का एक अंग है।

इन सारे उपासना-सूत्रो का आशय है—आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना। आत्मा सव मे है, फिर भी आत्मवान्! वहुत थोडे होते है। जिसमें संयम नही होता, वह आत्मवान् नहीं होता। मनुष्य के जीवन का प्रधान अंग आत्मा है, फिर भी उसके समीप रहने का अवसर वहुत ही कम मिलता है। अधिकाशत. वह वाहरी प्रदेशो मे रहता है। ये इन्द्रिया सदा

खुली रहने वाली खिड़कियां है। इनमे से मन बाहर की ओर झांकता रहता है। आत्मा मे क्या है? कितना है? और कैसा है? इसका उसे पता ही नही। हो भी कैसे? जो जिसके समीप ही नहीं आता, वह उसे कैसे पहचाने? अपनी पहचान सम्भवत सबसे कठिन है। उसका साधन है—सयम। व्रत और क्या है? सयम की उपासना ही तो व्रत है। जिसमे सयम नही, उसकी अर्चना छलना हो जाती है। छलना इसलिए कि वह पूजा करता है भगवान् की और कार्य करता है भगवान् से दूर रहने का। वह पूजा के समय तो भगवान् मे लीन हो जाता है और उससे उठते ही ऐसे कार्य करता है जिसका आचरण कर कोई आदमी भगवान नही वन सकता। भगवान् के आदेशों का उल्लंघन करे और भगवान की गुण-गाथा गाकर उन्हें प्रसन्न करना चाहे—यह कैसी समझ है! एक पुत्र पिता की गुण-गाथा गाये या न गाये, यह कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नही है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह पिता की वात मानता है या नहीं। पिता का कहा नहीं करता तो गुण-गाथा गाने से ही क्या होगा? और उसका कहा करता है तो गुण-गाथा न गाकर भी वह सफल है। सफलता की कसौटी भक्ति ही नही है। जब तक जीवन मे सयम विकसित नहीं होता, तब तक कोई व्यक्ति भक्त वनता ही नही। अपेक्षा यह है कि आदमी सयमी वने। भक्ति, ज्ञान आदि उसके प्रेरक है। प्रेरणा-स्रोत के बारे मे कोई मतभेद नही होना चाहिए। मूल वात है प्रेर्य-तत्त्व की। वह सयम है। लोगों ने भक्ति या प्रेरक-तत्त्वों को इस रूप मे पकडा है कि उसमें प्रेर्य-तत्त्व दृष्टि से ओझल-सा हो गया है। मै चाहता हू कि लोग आत्म-निरीक्षण करे, चिन्तन करे और प्रेरक तत्त्वो को प्रेर्य-तत्त्व का स्थान दे।

जीवन और धर्म

जैन-धर्म के दो सिद्धान्तो ने मेरे जीवन को बहुत प्रभावित किया है। उनमे एक है समतावाद और दूसरा है स्याद्वाद।

समता के सिद्धान्त से मुझे यह दृष्टि प्राप्त हुई है मै सब जीवो को समानता की दृष्टि से देखू।

मै उन्हे समानता की दृष्टि से तभी देख सकता हूं, जब मै हर परिस्थिति मे सम (मध्यस्थ या तटस्थ) रहू। जिसकी चिन्तनधारा विषम है, वह सबके प्रति समानता की अनुभूति नही कर सकता।

मै अपनी बुद्धि और विवेक को मानसिक असन्तुलन उत्पन्न करने वाली परिस्थितियो—लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, संयोग-वियोग आदि से अलग रखकर ही समानता की अनुभूति करने का अधिकार पा सकता हूं।

मै धर्म मे विश्वास करता हू। मै उसे किसी नाम से नही बाधता। फिर भी आप जानना चाहेगे, अतः मै कहूं कि मै जैन-धर्म मे विश्वास करता हूं। मै उस जैन-धर्म में विश्वास करता हू, जिसके सिद्धान्तानुसार आत्मा का पवित्र आचार-विचार या आत्म-विजय ही धर्म है।

स्याद्वाद से मै यह सीख पाया हूं कि सत्य उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है जिसके मन मे अपनी मान्यताओं का आग्रह नही है। जो लोग भौगोलिक, जातीय, साम्प्रदायिक आदि भेदो की दीवारो के पार तक नहीं देख सकते, उन्हे सत्य उपलब्ध नही होता।

समता और स्याद्वाद के सिद्धान्त जितने आन्तरिक है, उतने ही हमारे व्यवहार मे उपयोगी है।

मैं आत्मा मे विश्वास करता हू। जो आत्मा को मानता है, वह परलोक को भी मानता है। हमारे वर्तमान व्यवहार ही परलोक की अच्छी या वुरी स्थिति के निमित्त वनते है। अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है

और बुरे कर्म का बुरा फल। अपना किया हुआ कर्म अवश्य भोगना पड़ता है—चाहे इस जन्म मे, चाहे अगले जन्म में। इन मान्यताओं से वर्तमान व्यवहार अवश्य प्रभावित होते है।

मै आदर्श को वहुत महत्त्व देता हूं। हमारे सामने जैसा आदर्श होता है, वैसे ही हम बनते हैं। मैं वीतराग धर्म मे विश्वास करता हूं। अतः मेरे आदर्श वीतराग है। वे एक दिन आप-हम जैसे ही मनुष्य थे। उन्होने वीतरागता की साधना का प्रयत्न किया और वे वीतराग बन गये। उन साधनाओ को मैं अपने जीवन मे व्याप्त करने का प्रयत्न करता रहता हू।

हमारे धर्म-ग्रन्थ वीतराग को परम आत्मा मानते है। यह आत्मा की सर्वोच्च अवस्था है।

मै वीतरागता या आत्म-विजय मे विश्वास करता हू, इसलिए धर्म को विभक्त नही करता। यह तेरा धर्म है, यह मेरा धर्म है—ऐसा नही मानता। ये जितने नाम-धारी धर्म है, उन्हे मै सम्प्रदाय मानता हू। उनके प्रति मुझे सद्भावना और सहिष्णुता का दृष्टिकोण पसन्द है। मै इसे कतई पसन्द नही करता कि एक आदमी धार्मिक भी हो और दूसरो के प्रति असहिष्णु भी हो। मेरी दृष्टि मे धर्म की पहली सीढ़ी यही है कि हम सव सहिष्णु हो।

अणुव्रत-आन्दोलन

व्यक्ति का अस्तित्व अपना है, समाज का अस्तित्व व्यक्ति है। व्यक्ति वस्तुवाद है और समाज सुविधावाद। जब व्यक्ति की आवश्यकता अपने-आप पूरी नही हुई तब सापेक्ष स्थिति का उद्‌गम हुआ। सापेक्षता ने समाज को जन्म दिया। समाज का आधार है 'परस्परोपग्रह'। 'एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के प्रति उपकार' का सिद्धान्त जितना वास्तविक है, उतना ही व्यावहारिक भी है। जैन-दर्शन ने विश्व-स्थिति की मौलिक समस्या—जड-चेतन के सम्बन्ध की समस्या को सुलझाने के लिए इसका उपयोग किया। पदार्थवाद के अनुसार जैसे विश्व-सगठन का हेतु जीव और पुद्‌गल का परस्पर उपग्रह है, वैसे ही समाजशास्त्र के अनुसार समाज-सगठन का हेतु पारस्परिक सहयोग है। समाज की सहयोगी व्यवस्था और सापेक्ष स्थिति में बधकर व्यक्ति व्यक्ति नही रहता, वह आदान-प्रदान का केन्द्र-बिन्दु बन जाता है।

जव तक व्यक्ति व्यक्ति रहता है तव तक उसके सामने महत्त्वाकाक्षा, महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए परिग्रह या सग्रह, सग्रह के लिए शोपण या अपहरण, शोपण के लिए वौद्धिक या कायिक शक्ति का विकास, बौद्धिक और दैहिक शक्ति-सग्रह के लिए विद्या की दुरभिसन्धि, स्पर्धा आदि-आदि समस्याए नही होती। समाज मे प्रवेश पाकर व्यक्ति ज्यो-ज्यो अपनी दुर्वलता का प्रतिकार पाता है, त्यो-त्यों महत्त्वाकांक्षा और स्पर्धा उसे शक्ति-सग्रह के लिए प्रेरित करने लग जाती है। महत्त्वाकाक्षा शोपण को जन्म देती है और शोपण अव्यवस्था को। अव्यवस्था में समाज का ढाचा डावाडोल हो जाता है और तव उसकी पुनर्व्यवस्था के लिए दण्डनीति, अनुशासन और न्याय जन्म लेते है।

व्यक्तिगत जीवन मे मर्यादाहीनता का प्रश्न नही उठता। सामाजिक

जीवन मे मर्यादाहीनता आती है, किन्तु समाज उसे सहन नही कर सकता। इसलिए समाज धर्म-सहिता और दण्ड-विधान वनाता है। समाज का प्रत्येक सदस्य उसके अनुसार चलने के लिए बाध्य होता है। समाज की व्यवस्था के लिए समाज-व्रत या समाज-मर्यादा के पीछे रहने वाली राज्य शक्ति और शक्ति से नियन्त्रित व्यक्ति उच्छृंखल नही हो सकता।

मनुष्य जाति का ऊर्ध्वमुखी विराट् चिन्तन आगे बढा। दार्शनिक चिन्तन का विकास हुआ। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का तत्त्व उसने समझा। इहलोक की सीमा से परे परलोक को उसने जाना। इस दशा मे पहुचकर फिर वह व्यक्तिवादी वना और इस भूमिका मे निरपेक्ष जीवन-पद्धति का विकास हुआ। समाज की मर्यादा इस भूमिका मे अमर्यादा बन गयी। समाज जिस हिसा को क्षम्य मानता है, वह यहा अक्षम्य बन जाती है। समाज जिस सग्रह को न्याय मानता है, वह यहा अन्याय वन जाता है। समाज जिस भोग-विलास को वैध मानता है, वह यहा अवैध बन जाता है। इस भूमिका मे मर्यादा का नया स्रोत चला। उसी के नाम है—व्रत, नियम, यम, शील, शिक्षा या सयम।

कई विचारक ऐसा मानते है कि धर्म समाज-नियमन के लिए चला। किन्तु यह सत्य से परे है। धर्म का उद्गम आत्मा के अस्तित्व से हुआ। आत्म-शोधन की प्रक्रिया के रूप मे उसका विकास हुआ। मोक्ष-प्राप्ति, आत्म-शुद्धि या आत्म-नियमन के लिए उसका व्यवहार हुआ। मुनि चारित्र-ग्रहण के समय प्रतिज्ञा करता है कि मै आत्महित के लिए पाच महाव्रतो को स्वीकार कर विहार करूगा। व्रतो का साध्य है आत्म-मुक्ति। प्रासगिक फल के रूप मे समाज का नियमन भी होता है। किन्तु वह धर्म का अनन्तर फल नही है। ऐहिक और पारलौकिक भौतिक ऐश्वर्य के लिए धर्म करना विहित नही है। धर्म परलोक के लिए है, यह धारणा भी सदोष है। आत्महित की दृष्टि से वह इहलोक और परलोक दोनो मे श्रेयस्कर है।

भारतीय चिन्तन की मुख्यधारा चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष की ओर वही। शब्द-शास्त्र व प्रमाणशास्त्र का चरम उद्देश्य मोक्ष रहा, इसमे कोई आश्चर्य नही; किन्तु कामशास्त्र मे भी जीवन का चरम उद्देश्य मोक्ष वतलाया गया है। उपनिपदो ने प्रेयस् को बन्धन और श्रेयस् को मुक्ति माना है। प्रेयस् जीवन की अनिवार्यता है, फिर भी उसमे अनासक्ति होनी चाहिए। कारण

यह कि श्रेयस् की जो गति है, उसमें प्रेयस् बाधक न बने। जैनदृष्टि के अनुसार आत्म-मुक्ति की प्रक्रिया के दो तत्त्व हैं—सवर और निर्जरा। संवर निवृत्ति है और निर्जरा निवृत्ति-संवलित प्रवृत्ति; सवर निरोध है और निर्जरा शोधन। यह व्यक्ति की सहज मर्यादा है। इससे यह फलित होता है कि धर्म व्यक्ति के आत्म-नियमन का साधन है। इसे समाज के आपसी सम्बन्धों के नियमन का जो साधन बताया जाता है, वह आत्मवादी मानस की कल्पना है।

महाव्रत और अणुव्रत

भारतीय जीवन में व्रती जीवन का सर्वोच्च और गौरवपूर्ण स्थान है। यहा धन, ऐश्वर्य, भोग-विलास और दान से कोई बडा नहीं बना। नमि राजर्षि राज्य-वैभव और भोग-विलास को ठुकराकर निर्ग्रन्थ बने। इन्द्र ने उनसे कहा—'आप दान दे, भोग करे, और फिर दीक्षा ले।' राजर्षि बोले—'जो व्यक्ति प्रतिमास दस लाख गायो का दान करता है, उसकी अपेक्षा कुछ दान न करता हुआ भी सयमी श्रेष्ठ है।'

भारतीय परम्परा मे महान् वह है जो त्यागी है। यहा का साहित्य त्याग के आदर्शो का साहित्य है। जीवन के चरम भाग मे निर्ग्रन्थ या संन्यासी वन जाना तो सहज वृत्ति है ही, किन्तु जीवन के आदि भाग में भी प्रव्रज्या आदेय मानी जाती रही है। त्यागपूर्ण जीवन महाव्रत की भूमिका या निर्ग्रन्थ वृत्ति है, यह निरपवाद सयम मार्ग है। इसके लिए अत्यन्त विरक्ति की अपेक्षा है। जो व्यक्ति अत्यन्त विरक्ति और अत्यन्त अविरक्ति के वीच की स्थिति मे होता है, वह अणुव्रती वनता है। आनन्द गाथापति भगवान् महावीर से प्रार्थना करता है—भगवन्! आपके पास वहुत सारे व्यक्ति निर्ग्रन्थ वनते है, किन्तु मुझमे ऐसी शक्ति नही कि मै निर्ग्रन्थ वनू। इसलिए मै आपके पास पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत—द्वादश व्रतात्मक गृहीधर्म स्वीकार करूगा। यहां शक्ति का अर्थ है—विरक्ति। जिसमे ससार के प्रति, पदार्थो के प्रति, भोग-उपभोग के प्रति विरक्ति का प्रावल्य होता है, वह निर्ग्रन्थ वन सकता है। अहिंसा और परिग्रह का महान् व्रत उसका जीवन-धर्म वन जाता है। यह सवके लिए सम्भव नही, व्रत का अणु रूप मध्यम मार्ग है। अव्रती-जीवन शोपण और हिसा का

प्रतीक होता है और अणुव्रती-जीवन सयम और असयम, सत्य और असत्य, अहिंसा और हिसा, अपरिग्रह और परिग्रह का मिश्रण नही, अपितु जीवन की न्यूनतम मर्यादा का स्वीकरण है।

अणुव्रत-विभाग

अणुव्रत पाच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या स्वदारसन्तोप और अपरिग्रह या इच्छा-परिमाण।

अहिंसा : अहिसा रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियो का निरोध या राग-द्वेषरहित प्रवृत्ति है।

पहला निषेधात्मक पक्ष है और दूसरा विधेयात्मक। निषेधात्मक भावी-शुद्धि के लिए है और भूत-शुद्धि के लिए विधेयात्मक। वर्तमान शुद्धि दोनो मे है।

अनिवार्य-हिसा या अर्थ-हिसा जीवन की अशक्यता का पक्ष है। अनर्थ हिंसा प्रमादवश होती है। मुनष्य जितनी कायिक हिसा नहीं करता, उतनी मानसिक करता है। स्व-पर, वडा-छोटा, अस्पृश्य-स्पृश्य, शत्रु-मित्र आदि अनेक कल्पना के बधनो में फसकर मनुष्य इतना उलझा रहता है कि वह मानसिक हिसा से सहज ही मुक्ति नही पा सकता। अहिंसा अणुव्रत का तात्पर्य है अनर्थ-हिसा से अथवा अनावश्यक, केवल प्रमादजन्य या अज्ञानजनित हिंसा से बचना।

सत्य : सत्य, अहिसा का वचनात्मक या भाव-प्रकाशनात्मक पहलू है। हास्य अथवा कुतूहलवश अयथार्थ बोलना भी असत्य है। यह उसका सूक्ष्म रूप है। यदि कोई इससे न वच सके तो कम-से-कम स्थूल असत्य से तो उसे अवश्य वचना चाहिए। जिस वाणी या भावाभिव्यजना के पीछे बुरे विचारो का जाल बिछा रहता है, वह स्थूल असत्य है। सत्य अणुव्रत मे ऐसे असत्य का त्याग आवश्यक होता है।

अचौर्यः अचौर्य अहिसात्मक अधिकारों की व्याख्या है। पर-वस्तु-हरण चौर्य है। वह हिसा का अधिकार है। मनुष्य समाज के आपसी सम्बन्ध अधिकतर स्तेय-वृत्ति के उपजीवी है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोपण करता है, वह उसे अपने अधिकार मे लेता है, उसे दास वनाता है, उससे आदेश मनवाता है तथा उसका स्वत्त्व छीनता है। यह सव स्तेय-वृत्ति है।

सूक्ष्म दृष्टि से दूसरे का एक तिनका भी उसकी अनुमति के बिना लेना स्तेय है। अचौर्य अणुव्रत की मर्यादा है—जीवन के आवश्यक मूल्यों का अपहरण न करना।

ब्रह्मचर्य : ब्रह्मचर्य अहिंसा का स्वात्मरक्षणात्मक पक्ष है। पूर्ण ब्रह्मचारी न बन सकने की स्थिति मे विवाहित पत्नी के अतिरिक्त अब्रह्मचर्य का परित्याग करना और पत्नी के साथ भोग की सीमा करना चतुर्थ अणुव्रत है।

अपरिग्रह : यह अहिंसा का परपदार्थनिरपेक्ष रूप है। गृहस्थ का जीवन अपरिग्रही बन नहीं सकता। इसलिए अपरिग्रह अणुव्रत का अर्थ है—इच्छा का परिमाण। परिग्रह का नियन्त्रण सामाजिक नियमों से हो सकता है, किन्तु उससे इच्छा का नियन्त्रण नहीं होता। व्रत वह है जिसमे इच्छा के नियन्त्रण के द्वारा परिग्रह का नियन्त्रण हो।

व्रतो की उपादेयता मे कोई दो मत नही है। मत द्वैध है व्रतों की उपयोगिता में। आत्म-विरक्ति से स्वनियमन करने वाले विरले ही होते है। अधिकांश व्यक्ति तब तक हिंसा और परिग्रह को नही छोडते, जब तक वे वैसा करने के लिए बाध्य नही किये जाते। व्रत हृदय-परिवर्तन का फल है। जन-साधारण का हृदय उपदेशात्मक पद्धति से परिवर्तित नही होता। इसलिए समाज की दुर्व्यवस्था को वदलने के लिए व्रतो की कोई उपयोगिता नही। लगभग स्थिति ऐसी ही है। ऐसी क्यो है, चिन्तनीय विषय है। इस चिन्तन के परिणामस्वरूप दो-तीन बाते हमारे सामने आती हैं। पहली वात तो यह है कि व्रतो की रचना समाज की आर्थिक दुर्व्यवस्था को मिटाने के लिए नहीं हुई है। उनकी रचना हुई है उसकी आत्मिक दुर्व्यवस्था को मिटाने के लिए। आत्मिक दुर्व्यवस्था के मिटते ही आर्थिक दुर्व्यवस्था भी मिटती है, किन्तु व्रताचरण का यह गौण फल है। आत्मिक दुर्व्यवस्था की परिसमाप्ति का एकमात्र साधन हृदय-परिवर्तन है। जव व्यक्ति का हृदय वदलता है तो उससे आत्मिक दुर्व्यवस्था का अन्त होता है। उससे समाज की दुर्व्यवस्था भी मिटती है।

कानून के पीछे ऐसी शक्ति है कि मनुष्य उसका उल्लघन नही कर सकता और यदि वह करता भी है तो उसे उसका फल भुगतना पडता है। व्रतों के पीछे ऐसा वातावरण नही है। उनका आचरण इच्छा-प्रेरित

होता है।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य की आन्तरिक वृत्तियां राग-द्वेषात्मक होती है। इनके फलस्वरूप व्यक्ति मे अप्रिय वस्तु-स्थिति के प्रति असहिष्णु वृत्ति, अपने को सर्वोच्च मानने की वृत्ति और संग्रह की वृत्ति—ये चार मुख्य वृत्तिया होती हैं। यदि समाज का वातावरण और आसपास की स्थितियां इनके अनुकूल होती हैं, तो इन्हें उत्तेजना मिलती है और इनका कार्य तीव्र हो चलता है। बाहरी साधन की प्रतिकूल दशा में ये वृत्तियां दबी रहती हैं। समाज की अपेक्षा इतनी ही है कि ये दबी ही रहे। अध्यात्म की भूमिका और उसकी अपेक्षा है कि इनका मूलोच्छेद हो। जिनकी आत्मा उद्बुद्ध हो जाती है, वे पारिपार्श्विक स्थितियों पर विजय पाकर उनका मूलोच्छेद कर डालते है। किन्तु सर्वसाधारण की स्थिति ऐसी नही होती। समाज की भोगवादी मनोवृत्ति उन्हें उकसाती है। यही कारण है कि सर्वसाधारण को व्रत-पालन की सहज प्रेरणा नही मिलती। तीसरी बात यह है कि व्रत लेने वाले व्रतो के कलेवर की सुरक्षा करते है पर उनकी आत्म को नही छूते। वे व्रतों को अपने जीवन में लाते है, किन्तु जीवन को उनके आदर्शो पर नही ढालते। इस पर पुनर्विचार करना होगा कि अणुव्रती जीवन का आदर्श क्या और कैसा होना चाहिए।

अणुव्रती जीवन का आदर्श

अणुव्रती जीवन का आदर्श है परिग्रह और आरम्भ की अल्पीकरण। भोगवाद से महारम्भ और महापरिग्रह का जन्म होता है। अणुव्रती को महेच्छ और महारम्भ नही होना चाहिए। महारम्भ का हेतु महान् इच्छा है। इच्छा जब स्वल्प होती है तब हिसा अपने आप स्वल्प हो जाती है। यदि आरम्भ आवश्यकता के सहारे चलता है, तो वह असीम नही वनता। जब उसकी इच्छा गति के अधीन हो जाती है, तभी वह सीमित वनता है। पूंजी और उद्योग का केन्द्रीकरण आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु इच्छा की पूर्ति के लिए होता है। अणुव्रती आदर्श के अनुसार इनका अपने-आप विकेन्द्रीकरण हो जाता है। अणुव्रती दूसरे के श्रम और श्रमफल को न छीने, तभी वह अहिंसा और अशोषण के आदर्श पर चल सकता है। जब दूसरे के श्रम को छीनने की वृत्ति टूटती है, तव अपने-आप उसका

जीवन आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी और श्रमपूर्ण वन जाता है। जो व्यक्ति अपने श्रम पर निर्भर रहता है, वह कभी महारम्भी और महापरिग्रही नही बनता। महारम्भ व महापरिग्रह की परिभाषा समझने मे भूल हो रही है। उस पर फिर विचार करने की आवश्यकता है। सामान्यतया थोड़ी-वहुत प्रत्यक्ष हिसा के कार्य को लोग महारम्भ मान लेते हैं। वे परोक्ष हिसा की ओर ध्यान नहीं देते। खेती में जीव मरते हैं, इसलिए वह आरम्भ का धन्धा लगता है, किन्तु कूट-माप तोल मे प्रत्यक्ष हिसा नही दीखती; इसलिए वह महारम्भ नहीं लगता। महारम्भ और महापरिग्रह नरक के कारण है। कारण साफ है—उनसे आर्त-रौद्र ध्यान वढता है, उससे आत्म-गुणो का घात होता है तथा आत्मा का अधःपतन होता है। आचार्य जिनसेन ने ब्याज लेकर आजीविका करने को आर्त-रौद्र ध्यान का चिह्न माना है। विषय-संरक्षण रौद्र ध्यान है। इसका अर्थ है कि विषय और धन की प्राप्ति और उसके संरक्षण के लिए चिन्ता करना। धार्मिक समाज में भी मानसिक हिंसा का प्राबल्य इसलिए हो गया कि उसमे प्रत्यक्ष हिंसा नहीं दीखती। यदि प्रत्यक्ष हिंसा की भाति परोक्ष हिसा से घृणा होती तो जीवन इतना असत्य-निष्ठ और अप्रामाणिक नही बनता।

वृत्तियो की अप्रामाणिकता का हेतु महापरिग्रह है। महापरिग्रह के लिए महासावद्य उपाय प्रयोजनीय होते है। अणुव्रती अल्पपरिग्रही होता है। इसलिए उसके जीवन-उपाय अल्पसावद्य होते है। इसीलिए उसे 'अल्प-सावद्यकर्मार्य' कहा जाता है। 'अल्पसावद्यकर्मार्य' के सामने अप्रामाणिक बनने की स्थिति ही नही आती। अणुव्रती की जीवन-वृत्ति संग्रहोन्मुख नही होती। यहां कला या कर्म का आलम्वन इसलिए होता है कि उसकी जीवनवृत्ति सुखपूर्वक चले। जब श्रम के द्वारा जीविका का सुखपूर्वक निर्वाह नही होता, तभी चोरी आदि कुवृत्तियां वढती हैं। जटिल परिस्थितियां मनुष्य को वुरा वनने की प्रेरणा देती है। इसलिए समाज उन्हे सरल वनाने की बात सोचता है। अन्य स्थितियो की अपेक्षा इच्छा की अनियन्त्रित दशा अधिक जटिल स्थिति है। अणुव्रती को उस पर अधिक ध्यान देने की अपेक्षा होती है।

संक्षेप मे अणुव्रती का जीवन आदर्श है—इच्छा परिमाण, आरम्भ परिमाण। इस आदर्श को निभाने के लिए अणुव्रती को वडप्पन व

कल्पनापलब्ध झूठे आदर्शों पर प्रहार करना होगा। श्रम को नीचा मानने की भावना, वृत्ति के आधार पर ऊंच-नीच की कल्पना, धन के आधार पर वडे-छोटे की कल्पना आदि को तोडना तथा जीवन के मापदण्डों को बदलना होगा। जब तक जीवन के मूल्य न बदले, राजसी धारा मे अन्तर न आये, तब तक अणुव्रत जीवन-प्रेरक नही बनते। अणुव्रती को सादगी के लिए आडम्बरो का और नम्रता के लिए मिथ्याभिमान का बलिदान करना होगा।

व्यक्तिवादी मनोवृत्ति

भारतीय जीवन में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का प्राबल्य है। अध्यात्मवादी धारा मे व्यक्ति का विशेष महत्त्व बढता है। सयम के क्षेत्र में यह आवश्यक है। जब समाज संयमी नहीं बनता तब मैं क्यो बनूं, यह मनःस्थिति संयम के स्वीकरण मे बाधक बनती है। समाज संयमी न बने तो भी व्यक्ति को सयमी वनना चाहिए। सयम समाज का कानून नही, वह तो व्यक्ति की स्व-मर्यादा है।

जहा सामाजिक रीतिक्रम ममाज नही करता, वहां यदि अकेला व्यक्ति अपना विशेपत्व दिखाता है, तो वह स्थिति समाज के लिए घातक बनती है। व्यक्ति की उच्छृखलता समाज की मनोवृत्ति को उभारने का निमित्त वनती है।

अध्यात्म की धारा यह नही है कि व्यक्ति असयम से व्यक्तिवादी रहे। उसकी अपेक्षा है, व्यक्ति संयम साधना के लिए व्यक्तिवादी रहे। यह व्यक्तिवाद जो संयम से निखरता है, समाज या राष्ट्र के लिए घातक नही बनता।

धर्म समाज को व्यक्तिवादी दृष्टिकोण देता है, यह कहने वाले उसकी सीमा को दृष्टि से ओझल किये देते है। सही अर्थ मे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण वनने का प्रधान कारण सामन्तशाही है। भोगवादी मनोवृत्ति, सग्रहवादी मनोवृत्ति, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति और परिवारवादी मनोवृत्ति सामन्तशाही के निश्चित परिणाम है। भारत धर्म का मुख्य उद्गम स्रोत रहा है। इस दृष्टि से भले ही वह धर्मप्रधान कहलाये। धर्माचरण की दृष्टि से धर्म-प्रधान कहलाने की क्षमता कम-से-कम आज तो उसमे नहीं है।

सौभाग्य से व्रतों की दृष्टि अब भी सुरक्षित है। यदि उनका जीवन मे प्रयोग बढ़ा, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति भोग, असयम और अहम्-पोषण से हटकर संयम की ओर मुड़ी तो अवश्य ही अनैतिकता की बाढ़ रुकेगी।

अणुव्रत-आन्दोलन

अणुव्रत स्वयंसिद्ध शक्ति है। भोगवाद की एकछत्र शक्ति के प्रतिरोध के लिए वही सफल साधना है। अपेक्षा यह है कि शक्ति संगठित बने। असयुंक्त दशा मे दो नौ के अंकों का जोड़ अठारह होता है। सयुक्त दशा में वही 'निन्यानवे' हो जाता है। संयुक्त स्थिति का लाभ उठाने के लिए अणुव्रत आन्दोलन का प्रसार कर व्रतशक्ति को संगठित करने का प्रयत्न किया जाये।

स्थापना

अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन विक्रम स॰ २००५ की फाल्गुन शुक्ल। २ को सरदारशहर (राजस्थान) मे हुआ। पहले दिन लगभग अस्सी अणुव्रती वने। आज की भाषा मे प्रगति व विकास का मापदण्ड पदार्थ-विस्तार है। जडवादी युग के पदार्थपरक विकास के सामने चैतन्य विकास का जो प्रतिरोध अपेक्षित था उस दिशा मे अणुव्रत आन्दोलन सफल कदम प्रमाणित हुआ है।

ह्रास या विकास

मनुष्य की वाहरी स्थितियां विकसित हुई यह जितना सत्य है उतना ही सत्य यह भी है कि उसकी आन्तरिक वृत्तियां मन्द पड गयी है। 'तन्दुल वेयालिय' मे अवसर्पिणी युग के मनुष्य की अन्तर्वृत्ति और व्यवहार के अवसर्पण का चित्र खीचते हुए लिखा है—"मनुष्य की क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियां क्रमशः वढेगी। माप-तौल के अप्रामाणिक उपकरण वढेगे, तुला का वैपम्य, मान का वैपम्य, राजकुल का वैपम्य तथा वर्पा आदि के वैषम्य इस प्रकार वढेगे कि धान्य वलहीन हो जायेगा, उससे मनुष्यों की आयु कम होगी।"

ज्यो-ज्यों आन्तरिक वृत्तियो का विकार वढता है, त्यों-त्यो स्थितिया

जटिल बनती जाती हैं। रोग मूल अन्तर का क्षय है। मनुष्य बाहरी विकारों से चुंधिया गया है। वह अभी इस प्रश्नवाचक-चिह्न का उत्तर नही पा सका है कि वर्तमान युग विकास का युग है या ह्रास का।

उद्देश्य

अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तन का उद्देश्य है जीवन के मूल्यों को बदलना। यह कार्य सरल नहीं है। यह एक प्रकाश की रेखा अवश्य है। युद्ध और शीत-युद्ध के थपेड़ों और अस्त्र-शस्त्रो की स्पर्धा में मनुष्य जर्जर वन गया है। उसके सामने आन्तरिक वृत्तियो को पवित्र बनाने के सिवाय दूसरा विकल्प नही रहा है। अब दीख रहा है कि आन्तरिक वृत्तियां यदि यों ही चलीं तो प्रलय दूर नहीं है। इस आन्दोलन की ये अपेक्षाएं हैं– मनुष्य शस्त्र-निष्ठ न बनकर अहिंसा-निष्ठ बने। वह भौतिक विकास को मुख्य न मानकर आध्यात्मिक चेतना को जगाये। भोगी न बनकर वह व्रती बने। 'स्टैण्डर्ड ऑफ लिविंग' को गौण मानकर 'स्टैण्डर्ड ऑफ लाइफ' को ऊंचा उठाये ।एक शब्द मे आन्तरिक साम्य को शक्तिशाली बनाकर वह वैषम्य का अन्त करे।

प्रगति की ओर

अणुव्रत-आन्दोलन क्रमशः प्रगति की ओर बढ़ रहा है। अणुव्रतियों की सख्या अधिक नहीं हुई है। यद्यपि संख्या की दृष्टि से यह कोई ज्यादा प्रगति नहीं है, फिर भी भोगवाद के विरुद्ध संयम की ध्वनि का वल वढ़ रहा है। जनता का दृष्टिकोण बदल रहा है और नैतिक क्रान्ति की भूमिका वन रही है। ये ही सफलता के शुभ चिह्न है। इसमे कोई सन्देह नही कि इस आंदोलन ने वातावरण को प्रभावित किया है।

समन्वय की दिशा

अणुव्रत-आन्दोलन जाति, वर्ग तथा देश के भेदों को गौण मानता है। यही नही, धर्म-भेद के प्रति भी इसका दृष्टि-विन्दु सद्भावी और सहिष्णु है। किसी भी धर्म को मानने वाला इसका सदस्य वन सकता है। इतना ही

नहीं, इसकी रचना के आधारभूत तत्त्व भी सर्वसाधारण हैं। अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—'ये सर्व धर्म सामान्य तत्त्व हैं। इन्हें कोई अस्वीकार नही करता। सांख्ययोग में इन्हें 'यम' कहा जाता है। पतंजलि ने यम को उसी अर्थ में रखा है, जिस अर्थ मे जैन-सूत्र अणुव्रत का प्रयोग करते हैं। महाव्रत शब्द दोनों की भाषा में एक है। पतंजलि ने जाति, देश, काल समयानवच्छिन्न नियमों को महाव्रत कहा है। जैन भाषा में आगाररहित पूर्ण त्याग महाव्रत कहलाता है। दोनो का तात्पर्य सर्वथा एक है। महात्मा बुद्ध ने किंचित् परिवर्तन के साथ इन्हें पंचशील कहा है। श्रमण अणु और स्थूल दोनों प्रकार के पापों को वर्जता है। जब गृहस्थ स्थूल पापों को वर्जता है तब उनका व्रत अपने आप अणुव्रत हो जाता है। इस्लाम और ईसाई धर्म में अहिसा, सत्य और अपरिग्रह की मर्यादा और शिक्षा है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक धर्म मुमुक्षु के लिए जैसे सन्यास का विधान करता है, वैसे ही गृहस्थ के लिए अणुव्रत धर्म का।

अणुव्रत आन्दोलन में अणुव्रत शब्द जैन-सूत्रों से लिया गया है किन्तु भावना में कुछ अन्तर है। जैन परम्परा की भावना के अनुसार अणुव्रती वह बन सकता है जो सम्यक् दृष्टिवाला हो। इसीलिए अणुव्रतो को सम्यक्त्वमूलक कहा गया है। इस आन्दोलन में यह भावना नही है। जैन दृष्टि को स्वीकार करने वाला ही अणुव्रत बने, ऐसा नही है। इसके सम्यक् दर्शन की परिभाषा है—अहिंसानिष्ठ दृष्टि। अणुव्रती वह बन सकता है जिसकी अहिंसा में निष्ठा हो। यह आन्दोलन सब धर्मो को अहिसा में केन्द्रित करता है। वास्तविक धर्म अहिंसा ही है। सत्य आदि शेष व्रत उसी के पोषक या सहायक हैं। अहिसानिष्ठ व्यक्ति आत्मशुद्धि के लिए व्रतों को स्वीकार करेगा, भौतिक अभिसिद्धि के लिए नही। व्रतो का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। भौतिक सिद्धि के लिए उनका प्रयोग उनकी उच्चता का अपमान है। अर्थ-व्यवस्था असंयम से सुधर सकती है, तव भला कौन उसके सुधार के लिए व्रत का कठोर मार्ग अपनायेगा? अर्थ के लिए व्रत को अपनाने वाला अर्थनिष्ठ हो सकता है, व्रतनिष्ठ या अहिंसानिष्ठ नहीं। इसीलिए व्रती वनने का उद्देश्य मात्र आत्मशुद्धि होनी चाहिए। अन्तर की शुद्धि वाहरी वातावरण को शुद्ध वनायेगी। उससे आर्थिक और भौतिक व्यवस्था अपने आप शुद्ध होगी, इसमें कोई सन्देह

नही। अणुव्रत आन्दोलन केवल जीवन-शुद्धि की सामान्य भूमिका का समन्वय ही नहीं करता, वह धार्मिक मतभेदों के प्रति सहिष्णु भी बनाता है। वह अहिंसावादियों का सार्वजनिक मंच है। इसके सहारे अहिंसा का उच्चघोष किया जा सकता है। सब धर्मो का विचार-भेद मिटे यह कठिन है, किन्तु उनका विरोध घटे यह अपेक्षित है और यह सम्भव भी है। अणुव्रत आन्दोलन इसका माध्यम है। धर्म और व्यवहार की खाई को पाट कर उनका समन्वय करना इसका दूसरा उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त तीसरी दृष्टि यह है कि धर्म—जो बुद्धि, विचार और भाषा का धर्म बन रहा है, वह जीवन का धर्म बने।

व्यावहारिक लाभ

वर्तमान की मुख्य समस्या आर्थिक है, ऐसा माना जाता है। अर्थशास्त्री इसका समाधान प्रचुर उत्पादन बताते हैं। बाहरी रूप में कुछ हल-सा हुआ लगता है। किन्तु जव तक महालोभ है तब तक यह समस्या सुलझ जायेगी, ऐसा नही लगता। इसका निरपवाद समाधान सयम है। व्रती जीवन जहा आत्मशान्ति पैदा करता है वहां वह आर्थिक समस्या का भी समाधान देता है। व्रती जीवन वर्तमान युग की सर्वोच्च आवश्यकता है। इसके अनुकूल वातावरण बनाना सबका कर्तव्य है। जब व्रतो की प्रतिष्ठा वढ़ेगी तब मुख्य रूप में शुद्धि और व्यवहार में श्रम और स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा भी आयेगी। श्रम-निष्ठा के बाद भी व्रत-निष्ठा शेष रहती है, किन्तु व्रत-निष्ठा अपने आप में फलित हो जाती है।

अणुव्रत-आन्दोलन सयम की न्यूनतम साधना का आन्दोलन है। देश, काल और परिस्थितिजनित बुराइयां अपने-अपने ढंग की अलग-अलग होती है। किन्तु मनुष्य की जो शाश्वत दुर्बलता है, वह सभी देश, काल और परिस्थितियों मे एक-सी रही है। जब तक मूल हरा रहता है, तव तक शाखा-प्रशाखा, पत्र, पुष्प और फल बनते-विगडते रहते हैं। असयम सव बुराइयो का मूल है। हिसा, असत्य, चोरी, भोग-विलास और सग्रह—ये सभी दोप उसी के नाना रूप है। इन पर नियन्त्रण पा लेना वहुत ही कठिन है। पर इन पर कोई अंकुश ही न हो, यह तो और भी भयंकर है।

मैं वहुधा शान्ति और मैत्री के प्रश्नों पर सोचा करता हू। इनकी

चर्चाएं मुझे भी करनी होती हैं। मैं एक धर्माचार्य हूं और अणुव्रत आन्दोलन के उद्देश्यों का जनता को परिचय देता हूं। इसलिए बार-बार मेरे सामने ये प्रश्न आते रहते हैं। भारतीय और अभारतीय सभी प्रकार के लोग मुझसे मिले हैं और उन्होंने शान्ति एवं मैत्री के विषय में जिज्ञासाएं की है। मेरे अनुभव में ये व्यापक जिज्ञासाएं हैं। कोई पूछता है, कोई नही पूछता है। पर शान्ति कैसे मिले—यह प्रश्न लगभग सभी के मन मे है। और यह होना भी चाहिए। प्रत्यक्ष में जीवन का सर्वोपरि साध्य शान्ति ही तो है। वह नही मिली तो बहुत कुछ पाकर भी मनुष्य ने कुछ नहीं पाया। वह कुछ मिली तो कुछ भी न पाकर वह सब कुछ पा लेता है, वहुत कुछ प्राप्त हो जाता है। उसका सम्बन्ध आवश्यकता-पूर्ति से है। शान्ति इससे आगे की चीज है। उसके लिए भय-मुक्त होने की आवश्यकता है।

शान्ति यदि जीवन का सर्वोपरि साध्य है, तो उसका सर्वोपरि साधन है भय-मुक्ति। इसके बिना न मैत्री होती है और न शान्ति। वैज्ञानिक आविष्कार भय-मुक्ति की दिशा मे असफल हुए हैं, बल्कि भय उनसे बढा ही है। शक्ति और सत्ता मे सदा प्रतिस्पर्धा रहती है। इसी के फलस्वरूप शस्त्रों की संहारक शक्ति का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है।

अब मनुष्य समाज के सामने दो ही विकल्प शेष है—या तो वह भय-मुक्त बने या विध्वसक शस्त्रो के विस्फोट से स्वयं ही नष्ट हो जाये।

यदि यह विश्व जाति, वर्ण और भौगोलिक सीमाओ मे बंटा नही होता, यहां संग्रह और अधिकार करने का मनोभाव नही होता, तो न सन्देह होता, न भय और न अशान्ति ही। यदि मनुष्य को शान्ति से रहना है तो उसे एक दिन ऐसा करना ही होगा। किन्तु अभी इस मनःस्थिति को विकसित होने में बहुत समय लग सकता है। वर्तमान की अपेक्षा यह है कि व्यक्ति सयम का अभ्यास करे। वह दूसरों के स्वत्व पर अधिकार न करे। जो उद्योगपति हैं, उनसे यह अपेक्षा है कि वे श्रमिकों के श्रम पर अधिकार न करें। जो राष्ट्र-नेता है, उनसे यह अपेक्षा है कि वे दूसरे राष्ट्रो पर अधिकार करने या वनाये रखने की वात न सोचें, शक्तिहीन राष्ट्रो को धमकियां न दें तथा अपने ढंग की शासन-प्रणाली को मान्य करने के लिए विवशता उत्पन्न न करे।

अपने स्वार्थ को ही प्रमुखता देने वाला न केवल दूसरों के स्वार्थ को

हानि पहुंचाता है अपितु वह अपना स्वार्थ भी विघटित करता है। राजनयिक लोग बहुत गहराई से सोचते हैं, किन्तु स्वार्थ की भूमिका में वह गम्भीर चिन्तन भी समाधान नहीं देता, प्रत्युत वह उलझनें उपस्थित करता है। इस वैज्ञानिक और शिक्षा-बहुल युग में अब कूटनीति मे अपने को घूघट मे छिपाये रखने की क्षमता नही रही है। आज प्रत्येक व्यक्ति व समाज ही नही वल्कि प्रत्येक राष्ट्र सरलता से एक-दूसरे के साथ मैत्रीपूर्ण बरताव करने की नीति अपनाये, इसी में सवका हित है।

भय-मुक्ति के लिए अणुव्रत-आन्दोलन इन आचरणो को आवश्यक मानता है—

१ जाति, वर्ण और भौगोलिक भिन्नता के कारण मनुष्य, मनुष्य से घृणा न करे।

२ सत्ता या वल-प्रयोग से दूसरों के विचारो को कुचलने का प्रयत्न न करे।

३ कम देकर अधिक श्रम लेने का प्रयत्न न करे।

४. मनुष्य जाति की एकता, अविभक्तता और समान अनुभूतिशीलता में विश्वास करे।

५. आक्रमण न करे।

६. दूसरो के अधिकारो को हड़पने का यत्न न करे।

७ दूसरों की प्रभुसत्ता मे हस्तक्षेप न करे।

८. भूल से भी जो अन्यायपूर्ण कदम उठ जाये, उसके लिए क्षमा-याचना कर ले।

९. विरोधी-प्रचार न करे, व्यक्तिगत रूप से किसी को लांछित या अपमानित न करे।

भय-मुक्ति का अर्थ है—विश्वास। विश्वास का अर्थ है—मैत्री। मैत्री का अर्थ है—शान्ति। शान्ति का अर्थ है—जीवन के महान् साध्य की सिद्धि।

वर्तमान समस्याएं

जहा जीवन है वहां समस्या है और जहां समस्या है वहां जीवन है। जीवन और समस्या दोनों साथ-साथ चलते हैं। मनुष्य मे ज्ञान होता है, इसलिए वह उसका समाधान खोजता है। उसमें पुरुषार्थ होता है इसलिए वह उसका समाधान करता है।

समाधान की भिन्न-भिन्न दृष्टियां हैं। मेरी दृष्टि में सारी समस्याओ का समाधान एकरूप नहीं है। सब समस्याएं भी एकरूप नही हैं। कुछ समस्याए भौतिक हैं और कुछ अभौतिक। भौतिक समस्याओ का समाधान भौतिक हो सकता है और अभौतिक समस्याओं का समाधान अभौतिक। यह समाधान सर्वथा निरपेक्ष नहीं है। अभौतिक उपलब्धि के अभाव में भौतिक समस्या प्रबल होती है और भौतिक उपलब्धि के अभाव मे अभौतिक समस्या भी उलझ जाती है। अध्यात्म से रोटी नही मिलती पर जिस कारण से रोटी नहीं मिलती, उस कारण का अर्थात् सग्रह का निराकरण अध्यात्म हो सकता है। सन्तोष अभौनिक उपलब्धि है। उसके अभाव में भौतिक समस्या प्रवल होती है और भौतिक उपलब्धि के अभाव मे भौतिक समस्या जटिल वनती है। अतृप्ति या असन्तोष अभौतिक समस्या है। भौतिक वस्तुओ से सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता पर जीवन की अनिवार्य आवश्यकताए सुलभ हों तो सन्तोप की उपलब्धि मे सहयोग मिलता है। डस आंशिक सत्य को वहुत आगे तक नही खीचा जा सकता। डसलिए एक सीधी रेखा यही होगी कि कोरे अभौतिक विकास से भौतिक समस्याओं और कोरे भौतिक विकास से अभौतिक समस्याओ का समाधान नही होगा। भौतिक समस्याओं का समाधान श्रम और उपकरणो का आवश्यक विकास है तो अभौतिक समस्याओ का समाधान चरित्र-विकास है।

कुछ लोग नही चाहते कि वस्तु-विकास और चरित्र-विकास को विभक्त किया जाये। वे जीवन को अविभक्त मानते है और वैसा ही देखना चाहते हैं। उनकी दृष्टि मे वस्तु-विकास और चरित्र-विकास एक ही सत्य के दो पहलू हैं। वस्तु-विकास के बिना चरित्र-विकास और चरित्र-विकास के विना वस्तु-विकास नहीं होता। इसकी आशिक सचाई को मैं अस्वीकार नहीं करता। हमारे अभिमत मे एक स्थिति दूसरी स्थिति को प्रभावित करती है पर मैं इन दोनो के उपादानो को भिन्न मानता हूं। वस्तु-विकास का उपादान जहां भौतिक सामग्री की प्रकट उपलब्धि है, वहां चरित्र-विकास का उपादान चैतन्य की साक्षात् उपलब्धि या आन्तरिकता का उदय है। वस्तु-विकास मनुष्य की आवश्यकता-पूर्ति का हेतु है पर लक्ष्य नही है। अणुव्रत-आन्दोलन का ध्येय यह है कि मनुष्य लक्ष्य की ओर आगे वढ़े। प्रश्न होता है—लक्ष्य क्या है? इसका उत्तर है कि 'साम्य' है। साम्य वह स्थिति है—

१ जहां जाति, वर्ण और रग-भेद की विषमता न हो, घृणा का अंश भी न हो।
२. जहां भापा, प्रान्त और राष्ट्र का भेद केवल उपयोगिता के लिए ही हो, उससे मनुष्य-जाति की भौतिक एकता खण्डित न हो।
३ जहा सत्य का ही सर्वोपरि मूल्य हो, सम्प्रदाय आदि सस्थान उसकी व्याप्ति के लिए ही हो।
४. जहा अहंकार और ममकार का विसर्जन हो, जिसमें अपने हित के लिए दूसरों के हितों का हनन न हो।
५. जहा दमन, शोषण और अन्याय का स्वतन्त्र भाव से वर्जन हो।
६. जहां राज्य के नियन्त्रण और कानूनो की कमी हो [illegible] व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अधिक हो।
७ जहा अनर्थ हिंसा और अनावश्यक निजी सम्पत्ति [illegible] सहज भावना से वर्जन हो।
८. जहां आक्रमण न हो।
९ जहा अभय, प्रेम, सद्भावना और सहिष्णुता [illegible]

ये सब साम्य के रूप हैं। इनकी साधना [illegible]

[illegible]

कामना सफल होती है।

आन्दोलन के जो व्रत हैं, वे केवल दिशा-सूचक हैं। वे साधन है, साध्य नही है। जो लोग अणुव्रतों के शब्दो को पकड़ क्रमिक विकास को अवरुद्ध कर देते हैं, वे उनके हृदय को नही पहचानते।

अणुव्रतों को मैं इसलिए अधिक महत्त्व देता हूं कि उनकी पृष्ठभूमि में अध्यात्म का बल है। आज का मानव-समाज यदि सचमुच शान्ति का इच्छुक है तो उसके लिए अध्यात्म का स्वीकरण अनिवार्य है, दूसरा कोई विकल्प नहीं है। यदि उसे शान्ति, शिष्टता और मानवता की सुरक्षा प्रिय है।

अणुव्रत-आन्दोलन को वर्तमान समस्याओं के प्रति जागरूक रहना चाहिए। आज एकता की समस्या सबसे अधिक जटिल है। जो लोग एकता में अनेकता और अनेकता मे एकता देखने के अभ्यासी थे, वे कोरे अनेकतावादी बने। यह परिवर्तन इस बात का सूचक है कि वे अपने मौलिक दर्शन से दूर हो रहे है। उनका मस्तिष्क किसी नये दर्शन की सृष्टि कर रहा है और उसमें अनेकता और एकता में सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता नही है। छोटे-छोटे प्रश्न बड़ा रूप धारण कर लेते हैं, सामान्य बात आग्रह मे परिणत हो जाती है। ये सब उसी के परिणाम है।

हिन्दी का प्रश्न इसलिए जटिल बना हुआ है कि अनेकता में एकता लाने का मानस स्वस्थ नहीं है। यदि ऐसा नहीं होता तो यह प्रश्न इतना नहीं उलझता। किसी भाषा-विशेष के प्रति कोई अनुराग नही है। किन्तु यह अपेक्षा अवश्य है कि अनेकता में एकता स्थापित करने वाली कोई एक राष्ट्रव्यापी भाषा अवश्य होनी चाहिए। सारी परिस्थितियों के अध्ययन के पश्चात् यही कहा जा सकता है कि राष्ट्रव्यापी भाषा बनने की क्षमता हिन्दी मे सर्वाधिक है। उसे यह स्थान वैधानिक रूप में मिल भी चुका है पर जिस आत्मीयता से मिलना चाहिए और सबके द्वारा मिलना चाहिए, वह नही मिल रहा है। मेरी दृष्टि मे वह औचित्य का हनन है। मेरे जैसे लोगो के लिए, जो समूचे राष्ट्र मे पाद-विहार करते है और जनसाधारण से सीधा सम्पर्क स्थापित करना चाहते हैं, यह बहुत बडी समस्या है कि राष्ट्र की कोई एक भापा नहीं है। दक्षिण भारत की यात्रा सामने है। मैं वहां जाकर क्या करूं, भापा सीखूं या जनता के बीच जाकर

काम करूं? भाषा भी कौन-कौन-सी सीखू? वहां भी कोई एक भाषा नही।

मै प्रान्तीय भाषाओ के विकास को ठप्प करने का पक्षपाती नही हूं। और मुझे लगता है द्वन्द्व जो है वह प्रान्तीय भाषाओ व हिन्दी मे नहीं है। यह अंगरेजी और हिन्दी में है। देश मे एक ऐसा वर्ग है जो अंगरेजी को सर्वाधिक मान्यता देता है। मै नहीं मानता कि उसके पीछे कोई तर्क-बल नही है। किन्तु सर्वोपरि तर्क यह है कि जिस राष्ट्र की अपनी कोई एक भापा राष्ट्रव्यापी नही होती वह एकता स्थापित करने व विकास करने मे जटिल परिस्थितियो मे से गुजरता है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का सम्मानपूर्ण स्थान मिलने से उत्तर भारत की जनता अधिक लाभान्वित होगी, दक्षिण की कम—यह मानसिक चिन्तन त्रुटिपूर्ण है। उत्तर और दक्षिण का विभाजन भी अदूरदर्शितापूर्ण है। राष्ट्र का कोई एक भाग दूसरे भाग को विकल रखकर स्वयं पूर्ण नही वन सकता। अंगरेजी के सहायक राष्ट्रभापा रहने से दक्षिण के लोग अधिक लाभान्वित होते है और उत्तरवासी कम—इसी दृष्टिकोण से यदि यह राष्ट्रभाषाई आन्दोलन हो तो वह गलत है। किन्तु राष्ट्र की एकता के लिए एक भाषा को विकसित करना चाहिए—इस दृष्टि से जो आन्दोलन हो उसके औचित्य मे सन्देह कैसे किया जा सकता है? मै इस सारी समस्या को एकता की दृष्टि से ही विचारणीय मान रहा हूं। मै सव लोगो को यही परामर्श देना चाहूगा कि कोई भी आदमी ऐसा काम न करे, जिससे एकता की स्थिति भंग हो और अनेकता को वल मिले।

भावात्मक एकता के लिए संयम और धैर्य से काम लेना वहुत जरूरी है।

प्रगति के लिए कोरा ज्ञान पर्याप्त नहीं

१. दो भाई थे। वे राजा की सेवा में संलग्न थे। वे कार्य-कुशल, प्रिय और विश्वस्त थे। वे विना रोक-टोक सव जगह जाते थे। रनिवास के द्वार भी उनके लिए सदा खुले थे। विश्वास पर पाला पड़ गया। छोटे भाई ने रनिवास में अनाचार का सेवन कर लिया। उसके लिए रनिवास के द्वार बन्द हो गये। बडे भाई के लिए भी रनिवास का प्रवेश स्वतन्त्र नहीं रहा। अब वह प्रहरी के द्वारा राजा की अनुमति पाकर ही अन्दर जा सकता था।

२. एक गांव में कई कुएं थे। उनमे कोई विकार उत्पन्न हुआ, सबका जल विगड गया। पानी इधर-उधर से आने लगा। पहले जल के बारे में कोई प्रश्न नही था। अव पूछा जाने लगा कि जल कहा का है?

३. एक गाव मे तिलो और चावलों का बहुत वडा व्यापार था। लोग प्रामाणिक थे। अच्छे तिल और अच्छे चावल बेचा करते थे। एक व्यापारी का मन लालच से भर गया। वह सडे हुए तिल बेचने लगा। दूसरे व्यापारी की नीयत बिगड़ी, वह खराव चावल वेचने लगा। ग्राहक अव दुकानो पर पूछने लगे—तिल कैसे है? चावल कैसे है?

४. एक नगर के पूर्व भाग मे वहुत मन्दिर थे। उनमे अनेक तपस्वी रहते थे। वे शील-सम्पन्न थे। लोग उन सबकी श्रद्धाभाव से पूजा किया करते थे, सबको भोजन के लिए निमन्त्रित किया करते थे। एक मन्दिर के तापसो का शील विकृत हो गया। अव निमन्त्रण देते समय विचार होने लगा—किन्हे निमन्त्रित किया जाये?

५. एक गांव मे गायो के वहुत वडे व्रज थे। वहा से दूर-दरू तक गायें विकने जाती थीं। किसी सयम वहा गायो में रोग फैला। अव गौ-विक्रेता को पूछा जाने लगा—गायें कहा से लाये हो?

ये व्यवहार-भाष्य के शब्द-चित्र हैं। ये वर्तमान समस्या के मूल को अपने में समेटे हुए है। कुछेक की विकृति और अप्रामाणिकता का परिणाम सब पर होता है, इसके ज्वलन्त निदर्शन है। आज यदि मूर्खतावश कोई एक राष्ट्र अणु-आयुधो का प्रयोग करे तो क्या उसके परिणाम का भागी वही होगा? क्या दूसरे राष्ट्र उसके परिणाम से अस्पृष्ट रह सकेंगे? इसका समाधान बहुत ही स्पष्ट है। पागलपन का दौर नख से शिख तक है। जैसे-जैसे ज्ञान बढा है, वैसे-वैसे यह उन्माद भी बढा है। प्रगति के लिए कोरा ज्ञान पर्याप्त नही है। ज्ञान के साथ अमूढभाव विकसित हो तभी प्रगति का पथ प्रशस्त हो सकता है। आध्यात्मिकता और क्या है? अमूढता की साधना जो है, वही है आध्यात्मिकता। दूसरो के अधिकारो, विचारों और जीवन-प्रकारो पर प्रहार हो होता है, उसका सम्वन्ध ज्ञान से उतना नही होता, जितना मूढ मनोवृत्ति से होता है। नैतिकता या प्रामाणिकता को अध्यात्म की भूमिका पर लाने मे यदि हम समर्थ हुए तो प्रगति मे कोई वाधा न आयेगी।

मन की स्थिति है, जहा सन्देह नहीं होता वहा प्रश्न नही होता। उक्त प्रश्न जिज्ञासा के प्रश्न नहीं है, सन्देह से उत्पन्न हुए प्रश्न है। सन्देह किसने उत्पन्न किया? विकार ने, अप्रामाणिकता ने।

अप्रामाणकिता का इतिहास नया नही है। मनुष्य जितना पुराना है, उतना ही पुराना उसका लोभ है। जितना पुराना लोभ है उतनी ही पुरानी अप्रामाणिकता है। यह भी सच ही है कि लोभ उपशान्त रहता है तब अप्रामाणिकता नही बरती जाती है। कौटिल्य ने व्यापारी, शिल्पी आदि को 'अचोरे-चरोरः' (चोर न कहलाने वाले चोर) कहा है। यह उनके अप्रामाणिकता की ओर संकेत है। उनके अप्रामाणिक वनने में परिस्थितियां और लाभ का उभार दोनो निमित्त हैं। वुराई जो भी है उसका एक निमित्त है व्यक्ति का अपना मानस और दूसरा निमित्त है परिस्थिति। मानस के सुधरे बिना क्या मानव सुधर सकता है? इसका उत्तर एकान्ततः नही दिया जा सकता। कुछेक व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं, जो परिस्थितियो की अवहेलना कर आगे बढ सकें, सब कुछ सहकर भी प्रगति कर सके। सव लोगो के लिए यह वात सम्भव नही है। सामान्य मार्ग यही है कि अपामाणिकता के निमित्त से वचा जाये।

कर्मवादी की विचारणा में कोई विश्वास करे या न करे पर यह तो स्पष्ट है कि सब-के-सब पूंजीपति नहीं बनते और सबको अनुकूल परिस्थितियों का योग नही मिलता। यह जो होता है, वह एक विशेष परिस्थिति का परिणाम है जिसमें व्यक्ति की आन्तरिक और बाहरी दोनो परिस्थितियां समन्वित होती हैं। कुछ लोग भाग्यवाद की भाषा को मानते हैं पर वही दुःखवाद का प्रवर्तक है, इसे वे नहीं जानते या जानकर भी उसमें विश्वास नही करते। भाग्य की गति के साथ चरित्र की प्रगति होती है तब उसका स्रोत प्रतिकूल दिशा में प्रवाहित नही होता। चरित्र-विश्वास के अभाव में भाग्य आगे चलकर दुःख मे परिणत हो जाता है। इतिहास के किसी भी काल में इसे कसौटी पर कसा जा सकता है।

प्रगति और क्या है? इन निमित्तों के परिवर्तन का नाम ही तो है। देश-काल के परिवर्तन के साथ निमित्त भी परिवर्तित होते रहते है। एक समय में कोई वस्तु किसी का निमित्त बनती है, दूसरे समय में नही भी बनती। रूढ़ि और क्या है? जिसकी निमित्त बनाने की क्षमता नष्ट हो जाये, फिर भी उसे निमित्त मानते रहना ही तो रूढ़ि है। नया निमित्त बनता है, हम उसे प्रगति कह देते है। प्रगति और प्रतिगति दोनो चिरन्तन है। बुराई और भलाई का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितनी पुरानी मनुष्य जाति है। मनुष्य जाति जैसे एक है, वैसे बुराई और भलाई भी एक है। मनुष्य में जो मोह है वही है बुराई और मोह जो धुलता है वही है भलाई। मनुष्य सुख चाहता है, यह शाश्वत प्रवृत्ति है। सुख का साधन धन है इसलिए वह धन चाहता है। धन का आकर्षण भी मनुष्य मे चिरकाल से रहा है। धनार्जन के साधन पहले भी दोषपूर्ण रहे है। प्रतिरूपक व्यवहार अर्थात् मिलावट ढाई हजार वर्ष पहले भी होता था। उपासकदशांग मे इसका उल्लेख मिलता है। वृत्तिकार के अनुसार उस समय लोग अनाज मे मिलावट करते थे, घी मे चर्बी मिलाते थे। श्रमणोपासक के लिए जो व्रतों के अतिचार बतलाये हैं उनसे यह नहीं जाना जा सकता कि उस समय आज की बुराइयां नहीं थी। हम अतीत को जितना गौरवपूर्ण मानते हैं, उतना वर्तमान को नही। अतीत की अच्छाइयो के आलोक में हम अच्छा मार्ग ढूंढें यह अच्छी बात है पर उसे बुराइयों से मुक्त मान केवल वर्तमान को ही दोषपूर्ण मानें यह बात अच्छी

नही है। बुराइयों का मूल पहले भी था और आज भी है। उनके प्रकार कुछ वैसे ही आज भी है। प्राचीन साहित्य में स्त्रियो के अपहरण की घटनाएं मिलती है, वे आज नही होतीं। आवेगशीलता के जो उदाहरण मिलते हैं, वे आज नही मिलते। बडे-बड़े राष्ट्र भी सहसा आक्रमण नही करते। समझौता-वार्ता द्वारा समस्याओ को सुलझाने का यत्न करते है। सभ्यता बढी है, बुद्धिवाद बढा है। एक-दूसरे को निकट से समझने का प्रयत्न होता है। विरोधी दृष्टिकोण कम हुआ है, समन्वय का मनोभाव विकसित हुआ है। एक शब्द में भलाई के प्रकारो का विकास हुआ है। फिर भी हम नही कह सकते कि आज के लोग चरित्रहीन नही है।

सत्य के प्रति जितनी आस्था आज है, उतनी सम्भवतः पहले नही थी। विश्वास और प्रेम जितना घटा है उतना शायद पहले नहीं घटा होगा। मिलावट के प्रकार और मात्रा आज अधिक विकसित हुई है। दूसरो की निन्दा करने का चातुर्य आज अधिक विकसित हुआ है। अनुशासनहीनता भी बढी है। आज राज्य के सामने समाज और समाज के सामने व्यक्ति छोटा हो गया है, फिर भी हम नही कह सकते कि आज के लोग चरित्रवान् नही है।

वर्तमान अतीत की परिधि मे जाता है पर अतीत कभी वर्तमान नही बनता। उसका चित्रण ही किया जा सकता है। भविष्य की कल्पना की जा सकती है। कल का भारत कैसा होगा इसे हम कल्पना से आगे नही ले जा सकते। आज भारत जो है, उसे बदलना है। कभी भी ऐसा नही रहा जिसमे परिवर्तन, सुधार या क्रान्ति की अपेक्षा न रही हो। कल को और अधिक समुज्ज्वल बनाने की कल्पनाए भी सदा रही है। कल का भारत कैसा होना चाहिए, यह प्रश्न सर्वोपरि है। स्वतन्त्रता की माग यह है कि राज्य का स्थान छोटा हो, समाज का स्थान वडा, समाज का स्थान छोटा हो, व्यक्ति का स्थान वडा। व्यक्ति का स्थान वड़ा होगा तभी समाज से वडप्पन आयेगा।

व्यक्ति का स्थान इसलिए छोटा हो गया है कि वह अनेक विभाजन-रेखाओं से सीमित है। परिवार, जाति, भापा, प्रान्त, राष्ट्र, धन आदि से उसकी असीमता ढकी हुई है। भारत मे जाति और वर्ण की समस्या सर्वाधिक जटिल है। अगली पीढी का सर्वोपरि लक्ष्य होगा जाति,

वर्ग और वर्णहीन समाज की स्थापना। इस समाज का अर्थ अणुव्रत ही हो सकता है। अणुव्रत-आन्दोलन जाति, वर्ण आदि में विश्वास नही करता। उसके अनुसार मनुष्य जाति एक है। विभाजन की वाहरी रेखाएं कल्पित हैं। मनुष्य-मनुष्य मे भेद डालने वाले जितने प्रयत्न हैं वे सव जघन्य हैं। मनुष्य की उच्चता और नीचता का मापदण्ड पदार्थ नहीं है। वह ऊचा बनता है चरित्र को विकसित कर और नीचा बनता है चरित्र को गंवाकर।

चरित्र का अर्थ केवल आर्थिक बुराइयो से मुक्त होना ही नही है। शान्ति, मैत्री, समन्वय, अधिकार का अनपहरण, अनाक्रमण—ये सव चरित्र के अंग है। मानव-समाज इनसे सम्पन्न हो, यही हमारा इष्ट है।

वर्तमान तनाव और आध्यात्मिकता

आध्यात्मिकता जितनी अपेक्षित है, उतनी अपेक्षित कोई वस्तु नही है। यह एक धारणा है। इसकी सचाई को परखना जरूरी है। दुनिया के अचल मे ऐसे अनेक लोग हैं जो नही जानते कि आध्यात्मिकता क्या है? यदि वह सबसे अधिक अपेक्षित होती, तो उसे जाने बिना वे कैसे जी पाते!

जीना एक वात है और जैस जीना चाहिए, वैसे जीना दूसरी बात है। जीते सव है, जिन्हे जीवन मिला है। किन्तु जैसे जीना चाहिए, वैसे बहुत कम लोग जीते है। कारण यही है कि उन्हे आध्यात्मिक विकास का योग नहीं मिला है।

आध्यात्मिक विकास नैसर्गिक भी होता है और विवेकजनित भी। ऐसे लोग भी मिलेगे जिनकी शैक्षणिक योग्यता अल्पतम है, फिर भी वे वहुत अच्छा जीवन जीते है—शान्तिमय और सुखमय। ऐसे लोग भी कम नही हे, जिनकी शैक्षणिक योग्यता बहुत है पर वे बहुत क्लेशमय जीवन जीते है—अशान्तिमय और दुखमय।

आध्यात्मिक विकास का सम्वन्ध ज्ञान-विज्ञान से नहीं किन्तु हृदय की पवित्रता से है। वह सहज प्राप्त हो तो बहुत अच्छी बात है। यदि न हो तो उसे प्रयत्न से प्राप्त करे। प्रयत्न यह नही कि वहुत पढो। सही प्रयत्न यही होगा कि विवेक को जगाओ। विवेक का अर्थ है पृथक्करण—विश्लेषण। जो तुम्हारा नहीं है, उसे तुम अपना समझते हो, यह अविवेक है और जो तुम्हारा है उसे तुम अपना नहीं समझते, यह भी अविवेक है। यह अविवेक ही क्लेशमय जीवन का मूल है।

धन और पदार्थ तुम्हारी निजी वस्तु नहीं है। फिर भी तुम उन्हे निजी वस्तु मानते हो। इसलिए उन्हे पाने के लिए उचित-अनुचित सभी साधनो का आलम्वन लेते हो। उससे तुम्हारा और तुम्हारे सम्पर्क मे आने वालो

का जीवन क्लेशमय बनता है।

धन से आवश्यकता की पूर्ति होती है, इसलिए उसे पाने की धुन रहती है। उसे निजी वस्तु भला कौन विवेकशील व्यक्ति मान सकता है?

आवश्यकता की पूर्ति के लिए जितना धन चाहिए, उतना शायद उचित साधनों से भी मिल सकता है, पर धन का संग्रह प्रायः वे लोग करते है, जिनके सामने आवश्यकता का प्रश्न नहीं है।

क्या प्रतिष्ठा आवश्यक नही है? धन से वह प्राप्त होती है। धन कैसे भी आये, पर जिसके पास वह है, उसे प्रतिष्ठा प्राप्त है। जो प्रतिष्ठित है, वह सब कुछ है और धन को प्रतिष्ठा वे ही लोग नही देते, जो स्वय धनी हैं, किन्तु वे भी देते हैं, जो निर्धन है और संभवतः वे अधिक देते है।

इसका अर्थ यह हुआ कि धनिको को धनिक बनने की प्रेरणा निर्धन लोगो से मिलती है और उन लोगो से मिलती है, जो धन को ही सब कुछ मानते है। यह मूल्यांकन का गलत दृष्टिकोण या अविवेक ही आर्थिक विषमता का मूल है।

सारी चर्चा का सारांश यह है कि धन से आवश्यकयता की पूर्ति होती है, प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, इसलिएं उसका सग्रह किया जाता है यानी आवश्यकता की पूर्ति और प्रतिष्ठा निजी है, उसके लिए उसका सग्रह किया जाता है। यह भी विवेक नहीं है।

अनुचित साधनो का आलम्बन लेने से मनुष्य मनुष्य के प्रति क्रूर बनता है। मानवीय समानता की अनुभूति भंग होती है। यदि सब मनुष्यों के मन मे यह अनुभूति तीव्र होती है कि मनुष्य को मनुष्य के प्रति अन्याय का आचरण नही करना चाहिए तो मनुष्य आज के मनुष्य से भिन्न होता और भिन्न ही होते उसके जीवन के मूल्याकन।

आज जितनी कठिनाइयां हैं, उनमे से अधिकांश कठिनाइयां इसीलिए हैं कि मनुष्य-मनुष्य में समानता की अनुभूति नहीं है, या बहुत कम है। अन्याय, विश्वासघात, आक्रमण आदि अमानवीय कृत्य इसीलिए होते है कि मनुष्य-मनुष्य में असमानता की अनुभूति है।

मनुष्य, मनुष्य का सवसे निकट निजी है। पदार्थ उससे कही अधिक दूर है। पर पदार्थ सदा मनुष्य-मनुष्य के वीच दीवार बनकर रहा है और

वह इसलिए बनकर रहा है कि उसकी अपेक्षा एक को भी है और दूसरे को भी है। दोनो अपनी-अपनी अपेक्षा पूरी कर पाते तो पदार्थ मनुष्य-मनुष्य के बीच दीवार नहीं बन पाता। पदार्थ कम है, अपेक्षा अधिक है या कुछ लोग पदार्थों को अनावश्यक मात्रा में सगृहीत कर लेते है, इसलिए शेष लोगो की अपेक्षा पूरी नहीं होती, वे शत्रु बन जाते हैं। इस प्रकार मानवीय समानता की अनुभूति लुप्त हो जाती है। मनुष्य, मनुष्य का शत्रु बन जाता है।

मनुष्य-मनुष्य मे स्वभावतः कोई दूरी नही है। वह होती है इस निमित्त से कि जो अपना नहीं है, उसे अपना समझा जा रहा है और जो अपना है, उसे अपना नहीं समझा जा रहा है।

मनुष्य की सारी प्रवृत्तियां उसके दर्शन के आधार पर होती है। अणुव्रत-आन्दोलन इस पक्ष पर प्रारम्भ से ही वल देता रहा है कि दृष्टिकोण सम्यक् हो, दर्शन की धारा सही मार्ग से प्रवाहित हो। मैं अनेक बार कह चुका हूं कि एक मनुष्य असत्य वोलता है, वह उतनी चिन्ता की वात नही है जितनी चिन्ता की बात यह है कि वह यह मानकर चलता है कि असत्य बोले बिना आज की दुनिया में काम ही नही चल सकता। जहा आस्था विपरीत है, वहां अच्छाई की सम्भावना ही नष्ट हो जाती है।

कुछ लोग कहते हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन का प्रचार वहुत हो चुका, अव कोई रचनात्मक काम करने की जरूरत है। मै रचनात्मक काम का विरोधी नही पर प्रचार को अनावश्यक नही मानता और तव तक उसे अनावश्यक कैसे माना जाये जव तक कि हिन्दुस्तान के सारे लोग इस वात को न समझ जाये कि भ्रष्टाचार और अनैतिकता से उनका अपना अहित होता है, जहां मनुष्य का व्यापक अहित हो, वहा कुछेक मनुष्य उससे अपने आप को सुरक्षित नही रख सकते। भले वे थोडे समय के लिए आंख मूंदकर सचाई पर परदा डाल लें।

केवल हिन्दुस्तान की ही नही, समूचे विश्व की परिस्थिति जिन समस्याओ को जन्म दे रही है उसका समाधान भोतिक शक्तियो के पास नहीं है। पदार्थ के विकास की दिशा मे वे महत्त्वपूर्ण काम कर सकती हे और उन्होने किया भी है पर मनुष्य के पारस्परिक सम्वन्धो मे जो

अवांछनीय तनाव आया है उसे वे नही मिटा सकतीं। अणुव्रत-आन्दोलन इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि संसार की सारी आध्यात्मिक शक्तियां संगठित होकर मनुष्य के आपसी तनाव को कम करने का मार्ग ढूढ निकालें। मनुष्य की भलाई के लिए यह बहुत ही अपेक्षित है।

राष्ट्रीय चरित्र-विकास की अपेक्षाएं

हर स्थिति के निर्माण मे सामग्री सहायक होती है और हर स्थिति के विघटन मे भी ऐसा ही होता है। एक के बाद एक स्थिति घटित और विघटित होती रहती है। चरित्र के निर्माण और विघटन की भी अपनी-अपनी सामग्री होती है। हिन्दुस्तान की वर्तमान स्थिति राष्ट्रीय चरित्र के विकास की दृष्टि से अच्छी नही है। कोई भी राष्ट्र जिसका राष्ट्रीय चरित्र उन्नत नही होता, प्रगति नही कर सकता। इसीलिए हर विचारशील व्यक्ति उसके चरित्र-विकास के लिए चिन्तन करता है और चरित्र-ह्रास के कारणो का निवारण करना चाहता है।

हम सुविधा के लिए चरित्र को वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय इस प्रकार विभक्त करते है। पर सही अर्थ मे वह अविभक्त है। चरित्र-पतन का परिणाम अपने पर भी होता है, समाज पर भी और राष्ट्र पर भी। इसी प्रकार चरित्र-विकास का परिणाम भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र इन सभी पर होता है।

चरित्र-पतन के प्रमुख कारण है—

१ चारित्रिक शिक्षा और साधना का अभाव।

२ वैयक्तिक दृष्टिकोण

३ नियन्त्रण शक्ति का अभाव।

४. बडप्पन के कृत्रिम मानदण्ड।

५. आवश्यकता-पूर्ति का अभाव या विलासपूर्ण जीवन।

इनका निवारण करने के लिए आवश्यक है—

१ हर नागरिक को चारित्रिक शिक्षा मिले, कोरी शिक्षा ही नही। उसकी साधना का कार्यक्रम निश्चित किया जाये। साक्षरता, शिक्षा या

सैनिक-शिक्षा को अनिवार्य करने की बात जैसे वहुत बार कही जाती है वैसे ही चरित्र-शिक्षा की वात होनी चाहिए। जैसे तकनीकी विषयो का विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है, वैसे ही चारित्रिक विषयों को विशेष प्रशिक्षण दिया जाये—उनकी साधना का अवसर दिया जाये। जैसे सामरिक दिमाग की कल्पना है—समूचा राष्ट्र फौजी शिक्षा प्राप्त करे, यानी हर नागरिक सैनिक हो। वैसे ही आध्यात्मिक दिमाग की कल्पना है—समूचा राष्ट्र चारित्रिक प्रशिक्षण प्राप्त करे यानी हर नागरिक आचारनिष्ठ हो।

२. बहुत लोग ऐसे है, जो अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए समाज और राष्ट्र का अहित करने मे तनिक नही सकुचाते। उनमे राष्ट्रीय भावना भरना अस्थायी इलाज हो सकता है। और उसमें राष्ट्रवादी कट्टरता का खतरा भी निहित है। आध्यात्मिक भावना भरना निरापद है और यह स्थायी प्रतिकार है। सबको समान समझने वाला किसी के प्रति अन्याय नही कर सकता। आध्यात्मिक मूल्यो के आधार पर विकसित होने वाला वैयक्तिक दृष्टिकोण ही वस्तुतः सामुदायिक दृष्टिकोण होता है।

३. भौतिक समृद्धि से और बहुत कुछ प्राप्त होता है किन्तु मानसिक सन्तुलन या अपनी नियन्त्रण शक्ति का विकास उससे नही होता। उसके लिए आत्मनिरीक्षण बहुत आवश्यक है। आवेगों को रोकने की क्षमता प्राप्त किये बिना बहुत वार अनिष्ट घटनाए घटित हो जाती हैं। मै जब कभी विधानसभा या लोकसभा जैसी संस्थाओ में आवेगपूर्ण घटनाओ के समाचार सुनता हू तव मुझे आश्चर्य होता है और मैं सोचता हू—इतने आवेगशील आदमी क्या जनता का सही अर्थ में प्रतिनिधित्व कर सकते है? आवेश को नियन्त्रित करने के लिए अभ्यास-केन्द्र भी बहुत आवश्यक है।

४. वड़प्पन की मिथ्या मान्यता भी राष्ट्रीय चरित्र-विकास मे वहुत वड़ी वाधा है। पद वड़प्पन की भूमिका नहीं किन्तु कार्य की कसौटी है। उसका वरण समता के साथ हो तो वह कुछ प्रयोजनीय वनता है अन्यथा वह राष्ट्र या जनता के साथ विश्वासघात होता है। मानवीय योग्यता का इतना विकास किया जाये जिससे पद उसके सामने आकर्पण की वस्तु न रहे। अणुव्रतों की साधना उस कमी की पूर्ति का वहुत वडा साधन है।

अणुव्रत केवल छोटे लोगों के लिए ही नही है। बड़े लोगो ने ऐसा मान रखा है कि उनके लिए व्रत की कोई आवश्यकता ही नहीं। मैं विवश नहीं करता कि सब लोग अणुव्रती बनें। मैं यह अवश्य कहना चाहूंगा कि सब लोग, भले फिर वे कितने ही बड़े क्यो न हों, अणुव्रतों का पालन अवश्य करें।

५. आवश्यकता-पूर्ति का अभाव राष्ट्रीय चरित्र-विकास में बाधा है किन्तु विलासपूर्ण जीवन भी उसमे कम वाधा नहीं है। अभाव की पूर्ति श्रम या साधनों को वढाने से हो सकती है किन्तु साधनो की वृद्धि से जो चारित्रिक शिथिलता आती है, अभावजनित शिथिलता से अधिक भयकर होती है। उसका निवारण त्याग-भावना का विकास होने से ही सम्भव है।

भ्रष्टाचार की आधारशिलाएं

यह पहली भूल होगी, यदि हम अवांछनीय समस्या की रट लगाते जाये किन्तु उसे सुलझाने का प्रयत्न न करें। दूसरी भूल होगी, यदि हम परिणाम को मिटाना चाहे, उसके कारण को नहीं। वर्तमान स्थिति मे भ्रष्टाचार बहुत बढ़ गया है—यह आवाज जितनी प्रबल है, उतना प्रवल उसे मिटाने का प्रयत्न नही है। भ्रष्टाचार एक परिणाम है। वह तव तक मिट भी कैसे सकता है जब तक उसके कारण विद्यमान है।

हमे उस कुत्ते के समान अदूरदर्शी नही होना चाहिए जो उसे मारने के लिए फेके गये पत्थर को भी चाटने लगा जाता है। हमें उस शेर के समान दूरदर्शी होना चाहिए जो गोली में उलझे बिना उसे चलाने वाले की ओर छलांग भरता हैं। भ्रष्टाचार के कारणों को मिटाने का यत्न किया जाये, वह अपने-आप मिट जायेगा। भ्रष्टाचार के कारण अनगिनत है। सक्षेप में कुछ ये हैं—

१. अनुशासनहीनता।
२. जीवन के झूठे मानदण्ड और झूठी मान्यताए।
३. धन-लोलुपता।
४. सत्ता या पद की लोलुपता।
५. सामुदायिक जीवन के प्रति निष्ठा का अभाव।
६. राष्ट्र-प्रेम का अभाव।
७. नैतिक शिक्षा का अभाव।
८. प्रशासन-कौशल का अभाव।
९. सामाजिक रूढ़िया।
१०. गरीवी।

११. महंगाई।

१२. अपव्यय—फिजूलखर्ची।

१३ नियन्त्रण—कंट्रोल।

१४. दलगत राज-नीति।

१५. अधिकारियों की नियुक्ति में बरती जाने वाली पक्षपातपूर्ण नीति।

१. सुधार का मूल वीज अनुशासन है। इस चौराहे पर विरोधी दिशाएं भी मिल जाती हैं। जो लोग आध्यात्मिक मूल्यो में विश्वास करते हैं, वे भी आत्मानुशासन को मूल्य देते है और वे लोग भी उसे मूल्य देते है जो केवल सामाजिक जीवन के मूल्यों मे ही विश्वास करते है।

आत्मानुशासन के अभाव में समाज या राज्य का अनुशासन चलता है। जव अनुशासन चलाने वाले स्वयं अनुशासनहीन वन जाते हैं तव जनता भी अनुशासनहीन वन जाती है। वाहरी अनुशासन भय के आधार पर चलता है। अनुशासक जनता से भय खाते है तो जनता उनसे भय खाती है और जब वे जनता के भय से मुक्त हो जाते है तो जनता उनके भय से मुक्त हो जाती है। वुराई में जब दोनों की साझेदारी हो जाती है, तव दोनो एक-दूसरे के प्रति निडर हो जाते है।

व्यवस्था-भंग से भी अनुशासन में शिथिलता आती है। व्यवस्था-भग का एक कारण है अकर्मण्यता और दूसरा कारण है पक्षपात। कौटुम्विक, जाति, प्रान्त, मित्र आदि सम्बन्धो की भावना मन में गहरी होती है, तव व्यवस्था गौण हो जाती है, सम्वन्ध प्रधान हो जाते है। फिर हर काम मे पक्षपात होता है। उससे अनुशासन शिथिल हो जाता है।

पद-लोलुपता भी अनुशासन की शिथिलता का वहुत वडा हेतु है। लोकतन्त्र में सत्ता उन्ही को वरण करती है, जिन्हे समर्थन अधिक प्राप्त होता है। सत्तारूढ व्यक्ति अपने समर्थकों को सरक्षण न दे तो उनकी स्थिति दुर्वल हो जाती है। अत उनके सामने औचित्य-अनौचित्य की अपेक्षा उनके संरक्षण का प्रश्न मुख्य वन जाता है। दलगत राजनीति की यह अपरिहार्य दुर्वलता है। दल के चुनाव में अनेक अनियमितताएं वरतनी पडती हैं। वहुत सारे अच्छे लोग उन्हे पसन्द भी नही करते। पर जहां पार्टी का प्रश्न है, वहा उनसे वच वे भी नही सकते। इस प्रकार

अनुशासनहीनता निर्वाचन के समय ही क्षम्य हो जाती है।

२. भ्रष्टाचार की जडें जितनी मानसिक वृत्तियो में फैली हुई हैं, उतनी आवश्यकताओ में नहीं हैं। ये वृत्तियों हर सामान्य व्यक्ति में होती है–

क. प्रकाश में आने की मनोवृत्ति।

ख. बड़ा बनने की मनोवृत्ति।

ग. पद या सत्ता पर अधिकार करने की मनोवृत्ति।

घ. सुख-सुविधापूर्ण जीवन बिताने की मनोवृत्ति।

ड अनुकरण की मनोवृत्ति।

ये मनोवृत्तियां ही सामाजिक जीवन में प्रतिविम्वित होती है। आचार-सहिता 'क्या करना चाहिए'--इस आधार पर बनती है। व्यक्ति का सहज झुकाव उन प्रवृत्तियों की ओर होता है, जिनका निर्देश उसकी मनोवृत्तियो से प्राप्त होता है। कर्तव्य और कार्य मे जो विसगतियां होती हैं, उनका यही मुख्य हेतु है। समाज हर व्यक्ति को इतनी स्वतन्त्रता दे कि वह अपनी मनोवृत्तियो के अनुसार कार्य करे तो उसमे असामाजिकता के विकास का खतरा है। केवल बाहरी नियन्त्रण से उनके सहज झुकाव को रोकन भी खतरे से खाली नही है। वैचारिक विकास और नियन्त्रण कही सन्तुलित स्थिति में ही कुछ समाधान दिखाई देता है।

क. काम करना छुटपन है और न करना बड़प्पन।

ख. बडा आदमी वह है जो अधिक धनवान् है या अधिकार-सम्पन्न है।

इन मान्यताओ के आधार पर लाखों आदमी रोटी की कठिनाई भुगत लेते हैं पर कोई काम नहीं करते या अमुक-अमुक काम नही करते।

बडा बने रहने के लिए अनेक लोग धन का अनावश्यक व्यय करते है और सत्ता का झूठा प्रदर्शन करते है। जो लोग राजाओं को फिजूलखर्ची के लिए वदनाम करते थे, वे स्वय सत्तारूढ होने के बाद फिजूलखर्ची मे राजाओ से कम नहीं है। क्या जनता के सामान्य स्तर से असाधारणतम स्तर रखने वाले जनता के प्रतिनिधि हो सकते हैं?

३. सत्ता और पद के प्रति जो आर्कपण है, वह काम के लिए शायद उतना नही है, जितना वडा वनने की मनोवृत्ति की पूर्ति के लिए है।

सुविधा के लिए भी है। सत्तारूढ़ व्यक्तियों को जो सुविधाए प्राप्त है, वे न हो तो सम्भव है सत्ता के प्रति आकर्षण कम हो जाये।

४. धन के प्रति जनता का आकर्षण इसलिए नही है कि वह उसके काम की वस्तु है। जो काम की वस्तुए है, वे उसी के द्वारा प्राप्त होती है। इसलिए उसके प्रति आकर्षण है। यदि धन के द्वारा वस्तुए न मिले तो उसका वही मूल्य हो जाये जो बालू का है। मनुष्य-मनुष्य मे समानता की अनुभूति तीव्र नहीं होगी, तव तक धन के सामने मनुष्य का मूल्य वढेगा नही। धनी लोगो को इसका अनुभव भी नही कि मनुष्य का कोई मूल्य नही है। धनी होकर जो कोई निर्धन हो जाता है, उसे इसका अनुभव हो जाता है कि वास्तव मे मनुष्य का कोई मूल्य नही है। जो लोग धनी लोगो को इसलिए सम्मान देते हैं कि उनके पास धन है, वे सग्रह को प्रोत्साहन देते है। इससे येन प्रकारेण धन कमाने की वृत्ति को वढ़ावा मिलता है।

५. सामाजिकता वही स्वस्थ हो सकती है, जहां सामुदायिक जीवन के प्रति निष्ठा हो। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का वहुत महत्त्व है पर वैयक्तिक स्वार्थ-साधनो का स्थान बहुत नीचा है। वैयक्तिकता केवल धर्म की साधना के लिए ही उपयुक्त है। लगता है इस क्षेत्र मे उलटी गंगा वह रही है। आत्म-साधना के क्षेत्र में वैयक्तिकता होनी चाहिए, वहां सामुदायिकता हो रही है। वहा आदमी इस भापा मे सोचता है कि वे सव लोग सदाचार का पालन नही करते तव मै अकेला ही क्यो करू? समाज के क्षेत्र मे सामुदायकिता होनी चाहिए, वहा व्यक्ति का चिन्तन यह होता है कि मै दूसरो की किन-किन की, चिन्ता करू। मुझे अपी रोटी पका लेनी चाहिए।

भ्रष्टाचार के कारण बहुत स्पष्ट है। उन पर लम्बी-चौडी मीमासा की आवश्यकता नही है। सदाचार के आधार विकसित होगे तो भ्रष्टाचार अपने-आप मिट जाएगा।

एक धार्मिक आदमी सोचता है, मुझे ऐसा कोई भी काम नही करना चाहिए, जिससे मेरी आत्मा का पतन हो। यह सदाचार का धार्मिक आधार है। एक आदमी सोचता है—मुझे ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए जिससे मेरे राष्ट्र की क्षति हो। यह सदाचार का राष्ट्रीय आधार है। इन दोनो के मूल्य भिन्न-भिन्न है, फिर भी इसमे कोई सन्देह नही कि इनके

विकास से भ्रष्टाचार की जडे खोखली होंगी।

अनुशासनहीनता और जीवन के झूठे मानदण्डो और झूठी मान्यताओ के परिवर्तन का दायित्व शिक्षा-संस्थान लें तो अनेक समस्याओं का स्थायी समाधान हो जाये। आत्म-जागरण के अभाव में ही सत्ता, पद और धन को अधिक मूल्य दिया जाता है। यह काम धार्मिक और मनौवैज्ञानिक संस्थानों का है कि वे जनता की हीन-भावना को नष्ट करने के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करें।

अणुव्रत-आन्दोलन व उसके जैसे दूसरे नैतिक आन्दोलन नैतिक शिक्षण देने व सामाजिक कुरीतियों को मिटाने के काम मे वेग लायें। केन्द्रीय व राज्य सरकारे भी अपने दायित्व से मुक्त नही हो सकती। महंगाई, गरीबी, कानूनी उलझनें, कंट्रोल आदि समस्याओं का निवारण उन्ही का विषय है।

भ्रष्टाचार इतना व्यापक हो गया है कि वह किसी एक धक्के से गिरने वाला नहीं है। सब संस्थान तीव्रता से अनुभव करे कि यह स्थिति अवांछनीय है, तभी सब ओर से सामूहिक प्रयत्न हो सकते है। आज के चरित्रनिष्ठ लोग इसी प्रतीक्षा में है कि ऐसा हो और तत्परता से हो।

सदाचार की नयी लहर

सदाचार की पुन. स्थापना इस पर निर्भर है कि दुराचार के कीटाणु विनष्ट हो, जो अनेक रूपो मे जनता के मानस पर छाये हुए हैं। दुराचार के कीटाणुओं का एक रूप है विलास, दूसरा फिजूलखर्ची और तीसरा आवश्यकताओ को बढाना। इनका अस्तित्व धन के आधार पर ही टिक सकता है। इसीलिए अब लोग धन की ओर दौड रहे है। भ्रष्टाचार उसी दौड का एक परिणाम है। जब तक विलास फिजूलखर्ची और आवश्यकताओ को बढाने के स्थान पर सादगी, मितव्ययिता और आवश्यकता को कम करना—इनकी प्रतिष्ठा नही होगी तब तक सदाचार की स्थापना का काम बहुत कठिन होगा या कहा जा सकता है नही होगा। मेरी समझ मे जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले लोग उतने भ्रष्टाचारी नही है, जितने भ्रष्टाचारी वे लोग है, जिनके सामने जीवन की आवश्कताओ को पूरा करने का प्रयत्न नही है। जो अनुचित साधनो से धन नहीं कमाता वह विवाह के मौके पर फिजूलखर्ची कैसे कर सकता है? वह शराव के हजारों रुपयो का मासिक बिल कैसे चुका सकता है? और भी अनेक प्रकार का इस कोटि का उपभोग कैसे कर सकता है और ऐसे काम किये विना वह वडा आदमी कैसे बन सकता है? वड़प्पन का सम्बन्ध आज विलास से जुड़ गया है। जिस आदमी के पास भोग-विलास की अधिक क्षमता है, अधिक उपकरण है, वह वडा है और वह छोटा है, जिसके पास वे नही है।

जो छोटे है उनमे असन्तोष उभर गया है। उन्होने वह समझ लिया है कि वडा होने का अधिकार सवको है। उन्होने भी वही मार्ग चुना है जो कुछ वडे कहलाने वाले लोगों ने चुन रखा था। जब सारे ही लोग उस मार्ग पर चलने लगे है, तब वह समस्या विकट लगने लगी है। लोग सोचने लगे

विकास से भ्रष्टाचार की जड़े खोखली होंगी।

अनुशासनहीनता और जीवन के झूठे मानदण्डो और झूठी मान्यताओ के परिवर्तन का दायित्व शिक्षा-संस्थान लें तो अनेक समस्याओं का स्थायी समाधान हो जाये। आत्म-जागरण के अभाव में ही सत्ता, पद और धन को अधिक मूल्य दिया जाता है। यह काम धार्मिक और मनोवैज्ञानिक संस्थानों का है कि वे जनता की हीन-भावना को नष्ट करने के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करें।

अणुव्रत-आन्दोलन व उसके जैसे दूसरे नैतिक आन्दोलन नैतिक शिक्षण देने व सामाजिक कुरीतियो को मिटाने के काम में वेग लायें। केन्द्रीय व राज्य सरकारें भी अपने दायित्व से मुक्त नही हो सकतीं। महंगाई, गरीबी, कानूनी उलझनें, कंट्रोल आदि समस्याओं का निवारण उन्हीं का विषय है।

भ्रष्टाचार इतना व्यापक हो गया है कि वह किसी एक धक्के से गिरने वाला नहीं है। सब सस्थान तीव्रता से अनुभव करें कि यह स्थिति अवाछनीय है, तभी सब ओर से सामूहिक प्रयत्न हो सकते हैं। आज के चरित्रनिष्ठ लोग इसी प्रतीक्षा में हैं कि ऐसा हो और तत्परता से हो।

सदाचार की नयी लहर

सदाचार की पुनः स्थापना इस पर निर्भर है कि दुराचार के कीटाणु विनष्ट हो, जो अनेक रूपों में जनता के मानस पर छाये हुए है। दुराचार के कीटाणुओं का एक रूप है विलास, दूसरा फिजूलखर्ची और तीसरा आवश्यकताओं को बढाना। इनका अस्तित्व धन के आधार पर ही टिक सकता है। इसीलिए अब लोग धन की ओर दौड़ रहे है। भ्रष्टाचार उसी दौड का एक परिणाम है। जब तक विलास फिजूलखर्ची और आवश्यकताओ को बढाने के स्थान पर सादगी, मितव्ययिता और आवश्यकता को कम करना—इनकी प्रतिष्ठा नहीं होगी तब तक सदाचार की स्थापना का काम बहुत कठिन होगा या कहा जा सकता है नही होगा। मेरी समझ में जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले लोग उतने भ्रष्टाचारी नही हैं, जितने भ्रष्टाचारी वे लोग है, जिनके सामने जीवन की आवश्कताओ को पूरा करने का प्रयत्न नही है। जो अनुचित साधनो से धंन नहीं कमाता वह विवाह के मौके पर फिजूलखर्ची कैसे कर सकता है? वह शराव के हजारो रुपयों का मासिक बिल कैसे चुका सकता है? और भी अनेक प्रकार का इस कोटि का उपभोग कैसे कर सकता है और ऐसे काम किये बिना वह बडा आदमी कैसे बन सकता है? बड़प्पन का सम्वन्ध आज विलास से जुड़ गया है। जिस आदमी के पास भोग-विलास की अधिक क्षमता है, अधिक उपकरण हैं, वह बड़ा है और वह छोटा है, जिसके पास वे नही है।

जो छोटे है उनमे असन्तोष उभर गया है। उन्होंने यह समझ लिया है कि बडा होने का अधिकार सबको है। उन्होने भी वही मार्ग चुना है जो कुछ वडे कहलाने वाले लोगों ने चुन रखा था। जब सारे ही लोग उस मार्ग पर चलने लगे है, तब वह समस्या विकट लगने लगी है। लोग सोचने लगे

है कि यह मार्ग अच्छा नही है। इससे समाज का पतन हो जायेगा। इसे रोकना चाहिए। यह जागरण की अच्छी बात है। इसका सही उपयोग किया गया तो सदाचार की पौध अवश्य फलेगी-फूलेगी। पन्द्रह वर्ष पूर्व सदाचार के क्षेत्र में अणुव्रत-आन्दोलन अकेला था। आज चारों ओर सदाचार का स्वर गूंज रहा है। सब भले लोग यह चाहते है कि यह स्वर और अधिक प्रबल बने।

संयम की साधना परिस्थिति का अंत

मै परिस्थितिवाद का घोर विरोधी हू। आज के लोगो का उस ओर सहज झुकाव है। लोग आते है, नैतिक विकास की बातें चलती हैं। पहले-पहल सुनने को मिलता है—परिस्थितियां सुधरे बिना नैतिक विकास कैसे हो? मै उन्हें कहता हूं, इसका अर्थ यह हुआ कि परिस्थितियां सुधर जायेगी, अनैतिकता बरतने की आवश्यकता नहीं होगी, तब आप नैतिक विकास करना चाहेगे।

सारे दांत गिर जाने पर सुपारी न खाने और मृत्यु-शय्या पर सोकर ब्रह्मचारी बनने की बात जैसे हास्यास्पद है वैसे ही परिस्थितयां अनुकूल होने पर नैतिक विकास करने की बात भी हास्यास्पद है।

चर्चा आगे चलती है। वे अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं, मै अपना अनुभव देता हूं। आप स्वयं सोचें कि दोनों में कौन अधिक वास्तविक है। तर्क कोरा बुद्धि का व्यायाम है। वह आप भी कर सकते है और मै भी कर सकता हू। पर अनुभव सत्य का निचोड है।

मुझे अनुभव है कि परिस्थितियों के सामने घुटने टेकने वाला गिरता है और उनसे लडने वाला उठता है, आगे बढ़ता है।

जैन मुनि के जीवन का मतलब ही है—परिस्थितियो से लड़ते रहना। मै एक जैन मुनि हू। मेरे आचार्य ने मुझे अपना दायित्व सौंपा, उसे भी वहन कर रहा हू। इसलिए परिस्थितियां मेरे सामने और अधिक विकट बनकर आती हैं। जीवन की व्यक्तिगत बातों और पारिपार्श्विक उतार-चढावो को जाने दे। अणुव्रत-आन्दोलन भी मेरे सामने परिस्थिति रहा है।

आज से दस वर्ष पहले की बात है। मैने सोचा—जो तत्त्व हमे मिला है वह सबके लिए हितकर है। सयम की साधना की। हमें आनन्द मिला,

शान्ति मिली। दूसरे लोग भी इसकी साधना करें तो उन्हे आनन्द और शान्ति क्यों न मिलेगी। लोग आनन्द चाहते है, शान्ति की प्यास है। सम्भव है, उन्हें मार्ग न मिल रहा हो। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं, जो जान-बूझकर बुराई करें और अशान्ति पाते रहें। सब लोग तो ऐसे नही हैं। कुछ लोग बुराई को बुराई समझ ले तो उसे छोड़ भी सकते है। अच्छा हो हमारा अनुभव लोगों तक पहुंचे। पर पहुंचे कैसे? जीवन-भर पद-यात्रा का व्रत, विद्युत्-प्रयोग का निषेध।

आखिर हमने इसका समाधान ढूंढ़ा कि लोग हमारे पास पहुंचे और हम उन तक पहुंचें। आपस में विचार-विनिमय करें। उनके अनुभव ले और अपने अनुभव दे। कुछ लोग प्रेरणा पा मेरे पास आने लगे। प्रतिकूल परिस्थिति का ज्वार आया। कुछ मित्रों ने टिप्पणियां शुरू की—आचार्यश्री के भक्त-सेठों ने थैलियों का मुह खोल रखा है। उनके बल पर बडे-वडे आदमियो को लाया जा रहा है और उनसे प्रशस्तियां लिखा या वुलवाकर महत्त्वाकांक्षाएं पूरी की जा रही हैं आदि-आदि।

हम मौन रहे, उन तथ्यहीन आलोचनाओं को पीते रहे। इसमे कोई सन्देह नही कि प्रमुख-प्रमुख व्यक्तियो से मिलना और उनके मनोभावों को जानना हमारा लक्ष्य था। बात रही आने-जाने की। हम रहे पद-यात्री। हमारे लिए दुनिया की दूरी वही है जो पहले थी। कब और कैसे कहा पहुच पाये। गृहस्थों के लिए इस वैज्ञानिक युग मे दुनिया बहुत छोटी हो गयी है। हमारी अशक्यता को ध्यान में रख यदि प्रमुख व्यक्ति हमारे पास आते तो वह कौन-सा दोष था। हमारे अनुभव उनको भाते तो प्रशसा भी करते। उसका सम्बन्ध उनकी मनोवृत्ति से था या हमसे?

प्रारम्भिक स्थिति का अध्ययन कर अणुव्रत-आन्दोलन शुरू किया। उसके इतने व्यापक रूप की कल्पना हमारे मन में नहीं थी। हमने सोचा—चलो, कुछ भी नही होने की अपेक्षा कुछ भी हो; यही अच्छा हे।

अणुव्रत का द्वार सवके लिए खुला था। यह भी एक परिस्थिति वन गयी। कुछ मेरे ही अनुयायी इसका विरोध करने लगे। उनका प्रचार-सूत्र यह वना कि आचार्यजी जैन और अजैन सबको अणुव्रती वना रहे हे, स्पृश्य और अस्पृश्य को एक धागे मे पिरो रहे है। हम उसे भी सुनते रहे। थोडा समय वःता। हमारे साधु भी लोगो के पास पहुंचने लगे। उसका भी

विरोध हुआ। एक व्यक्ति ने मुझसे कहा—हमारे साधु घर-घर जाते हैं, इससे उनका गौरव घटता है। मैने उनसे कहा—हमारे पूज्य आचार्य भिक्षु स्वामी ने दुकान-दुकान पर साधुओ को भेजा था, मैं उसे आदर्श मानकर चलता हू।

किसी ने कहा—कुआं प्यासे के पास नहीं जाता है, प्यासा कुए के पास आता है। मैने कहा—कभी यह भी हुआ होगा। आज के कुएं भी प्यासो के पास जाते है। देखिए न, घर-घर में नल लगे हुए हैं।

अणुव्रत का कार्य आगे बढा। जन-साधारण ने इसे आवश्यक माना तो हमारी शक्ति इस ओर अधिक लगी। इसने एक नया ऊहापोह खड़ा किया। हमारे जैन भाई कहने लगे—आचार्य जी जैन बनने पर बल नहीं देते। तेरापथ के प्रचार की गति शिथिल कर दी। मै उन्हे कहता रहा कि जैन, वौद्ध और वैदिक सम्प्रदाय है। धर्म है अहिसा, सत्य, अपरिग्रह और व्रह्मचर्य। मै धर्म के मौलिक स्वरूप के प्रति जन-मानस मे आस्था भरना चाहता हूं। क्या अहिसा के सिवा जैन-धर्म का कोई अस्तित्व है? अहिंसा का प्रसार क्या जैन-धर्म और तेरापंथ का प्रसार नही है? अहिंसा और जैन-धर्म के द्वैत की मान्यता को मैं मानस की सिकुडन मानता हू।

एक ओर यह आन्तरिक विरोध था तो दूसरी ओर इसका [illegible] चला। अजैन क्षेत्रो में यह चर्चा तीव्र होने लगी कि [illegible] अणुव्रत-आन्दोलन के जरिये सबको जैन वनाना चाहते हैं। [illegible] साम्प्रदायिक है। हम दोनों स्थितियो को आश्चर्य के भाव [illegible]

कुछ लोगो के सुझाव आये कि यह आन्दोलन [illegible] इसका प्रचार सतत और तीव्र गति से होना चाहिए। [illegible] प्रचार किया कि आचार्यजी को प्रशंसा की [illegible] अणुव्रत-आन्दोलन के बहाने अपना सिक्का [illegible] सुनते रहे।

रहा हूं। संयम का नेतृत्व साधु लोग नही करेंगे तो क्या राजनयिक करेंगे? वे नियन्त्रण कर सकते हैं, पर संयम के प्रेरक नही बन सकते। संयम की प्रेरणा वे ही दे सकते हैं जो स्वयं संयत हों। छोटों के दिल में भ्रान्ति का बीज बड़ों के असंयम ने ही तो बोया है।

अणुव्रत-आन्दोलन का कार्य आगे वढ़ा। छुटपुट प्रश्न स्वय धुल गये। चर्चा का स्तर कुछ बदला। चिन्तनशील व्यक्तियो ने कहा—भगवान् महावीर हुए, भगवान् बुद्ध हुए, महात्मा गाधी हुए, वे ही विश्व को नैतिक नहीं बना सके तो अब आप क्या उसे नैतिक बना देंगे? मैने कहा—मैं कब दावा करता हूं कि समूचे विश्व को मैं नैतिक बना दूगा। नैतिकता की लो किसी-न-किसी रूप में जलती रहे, मेरा प्रयास इतना ही है। अनैतिकता नैतिकता को निगल जाये, यह बेला विश्व के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण होगी।

अहिंसा का घोष हजारो वर्षो से होता रहा है पर हिसा का साम्राज्य भी ज्यों-का-त्यो है। हिंसा के कारणो को मिटाये बिना अहिसा सफल नही हो सकती। इस विचार ने भी हमारे चिन्तन को आगे बढाया। हमे लगा कि आज का मानस हर वस्तु को भौतिकता की कसौटी से कसता है। जो तत्त्व सामाजिक सुख-सुविधा न दे सके वह असफल माना जाता है। अहिंसा के द्वारा जीवन की आवश्यकताएं पूरी नही होतीं इसलिए वह असफल है। चिन्तन की यह रेखा भूल के बिन्दुओं से बनी है और बनती जा रही है। व्यवस्था और अहिंसा के परिणामो को एक तुला से तोलना अपने आप मे बडी भूल है। व्यवस्था का परिवर्तन शक्ति या सत्ता से हो सकता है, यह समाजवाद का मूल है। हृदय का परिवर्तन अहिसा से ही होता है, इसका मूल व्यक्ति है। एक साथ सबको मनवाने की बात अहिसा के क्षेत्र मे नहीं है। मूल सुधार की पद्धति यही है कि व्यवस्था को व्यवस्था की दृष्टि से और अहिसा को अहिंसा की दृष्टि से सोचा जाये।

कुछ गम्भीर चिन्तन के स्रोत से ऐसा उच्छ्वास मिला कि अणुव्रत-आन्दोलन जड़ की वात नही करता, वह केवल ऊपर को छूता है। हमने सोचा जड की वात फिर क्या है? क्या आर्थिक स्थिति का सुधार ही जड की वात है? हिसा के सामने अहिसात्मक भावना का वातावरण पैदा करना क्या जड़ की वात नही है? जीवन की आवश्यकता सुविधा हो,

वैसी सुविधा से मेरा विरोध नहीं है। आर्थिक व्यवस्था का सुधार ही अहिंसा का मूल है--इससे मेरा विरोध है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र आज कितने अशान्त और उलझे हुए है। भारत की स्थिति उनसे सर्वथा भिन्न है, यद्यपि वह अर्थ-व्यवस्था का सन्तुलित समाधान नही पा सका है।

अनाक्रमण, शान्ति और अपने अधिकार-क्षेत्र में सन्तुष्ट रहने की जो भारतीय मानस की शर्त है वह अहिंसा की चिरकालीन परम्परा का ही तो परिणाम है।

समाज के मुखिया यदि सामूहिक हित की व्यवस्था और अहिसा मे विश्वास रखने वाले संयम के माध्यम से समाज को बदलना चाहें तो वैयक्तिक स्वार्थ और रक्त-क्राति दोनो प्रयोजन-शून्य बन जाते हैं।

मेरी धारणा में परिस्थिति का अनुगमन समाज की मानसिक दुर्वलता का रेखाचित्र है। एक के वाद दूसरे प्रकार मे परिस्थिति रहेगी ही। उसके अन्त की कल्पना के चरण मे नैतिकता की रेखा न ढूढे। उसका मूल संयम मे है। संयम के विकास का मतलब है--परिस्थिति की विजय। मै फिर साफ कर दू कि परिस्थिति के आवश्यक सशोधन मे मुझे कोई आपत्ति नही है, पर उसके प्रभाव से मुक्ति उसे जीतने की क्षमता उत्पन्न होने पर ही सम्भव है। अणुव्रत-आन्दोलन का लक्ष्य यही है। अपना मोड वदले, फिर परिस्थिति के दास आप नहीं होगे, उसे स्वय आपकी अधीनता मान्य होगी।

भावात्मक एकता और स्वभाव-निर्माण

इन पन्द्रह वर्षो में बड़ी तीव्र अनुभूति हुई है कि एकता के बिन
सुव्यवस्था नही हो सकती, अनुशासन और चिन्ता-मुक्ति में स्थायित्व नह
आ सकता। इनके बिना जीवन का स्थिर-विकास नही हो सकता। भार
के प्रमुख व्यक्ति एकता के लिए चिन्तित हैं, वह स्वाभाविक है। प
चिन्ता मात्र से कोई काम नहीं बनता। प्रत्येक कार्य उपाय से सधता है
एकता के उपाय खोजे जा रहे है। यह आवश्यक भी है। अनेक लो
अनेक उपाय ढूढते हैं, वहां कोई न कोई समाधान मिल ही जाता है।

मैं एकता के लिए स्वभाव-परिवर्तन को बहुत अधिक महत्त्व देता हू
अनेकता और एकता ये दोनों मानवीय स्वभाव मे फलित होती है
प्रादेशिक, भाषाई, जातीय आदि भेद होने पर भी एकता हो सकती है औ
वे भेद न होने पर भी एकता नही हो सकती है। इसका हेतु स्वभाव व
विविधता है। एकता और अनेकता का प्रश्न तात्कालिक नही है औ
इसका समाधान भी तत्काल नहीं हो सकता। इसका स्थायी समाधान पा
के लिए हमें मानवीय स्वभाव के निर्माण की ओर विशेष ध्यान देना होगा

असहिष्णुता, निरपेक्षता और अनुदारता—ये तीन मनुष्य-स्वभाव व
दुर्बलताएं है। अनेकता इन्ही से उत्पन्न होती है। एकता के लिए य
अपेक्षित है कि मनुष्य स्वभाव में सहिष्णुता, सापेक्षता और उदारता—
तत्त्व पुष्ट हों।

मनुष्य का स्वभाव बदलता है और वदल सकता है—इस सम्भाव
को लक्षित कर एक राष्ट्रीय अभियान होना चाहिए। सारी शिक्षा-दीक्षा म
इन तीनो को अधिक महत्त्व मिलना चाहिए।

वौद्धिक और वैज्ञानिक विकास की ओर जितना ध्यान दिया जाता है
उसके चतुर्थांश मे भी व्यक्ति-विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। पर

चिन्तनीय यह है कि बौद्धिकता और वैज्ञानिकता के लिए मनुष्य है या मनुष्य के लिए बौद्धिकता और वैज्ञानिकता? मनुष्य का स्वभाव छोटा हो रहा है और बौद्धिक स्तर अधिक ऊंचा हो गया तो इसे खतरा ही कहा जायेगा। बौद्धिक विकास स्वभाव की उच्चता के साथ होता है तभी वह निर्माणकारी होता है, अन्यथा वह ध्वंसकारी बन जाता है।

भारत जो आध्यात्मिक देश के रूप में प्रख्यात है, उसकी जनता का स्वभाव शेष देशों की जनता से कुछ विलक्षण होना चाहिए। जो लोग पदार्थ-विकास मे विश्वास करते हैं, वे असहिष्णु हो सकते हैं। जो लोग शस्त्र-शक्ति में विश्वास करते हैं, वे निरपेक्ष हो सकते है। जो लोग अपने लिए दूसरो के अनिष्ट को क्षम्य मानते हैं, वे अनुदार हो सकते हैं। किन्तु भारतीय मानस की विलक्षणता रही है। उसने पदार्थ को आवश्यक माना पर उसे आस्था-केन्द्र नही माना। शस्त्र-शक्ति का सहारा लिया पर उसमें त्राण नही देखा। अपने लिए दूसरो का अनिष्ट हो गया तो उसे क्षम्य नहीं माना। उसका प्रायश्चित्त किया। यह विलक्षणता अहिंसा की चिरकालीन परम्परा से उपलब्ध है। इन कुछ शताब्दियों में अहिसा की परम्परा और विलक्षणता दोनो कुछ निष्प्राण हुई है। आज उन देशो मे जो भौतिक दौड मे लगे हुए है, जितनी राष्ट्रीय एकता है, उतनी भारत में नही है। उनमें जो एकता है वह एक ही दिन के प्रयत्न का परिणाम नहीं है। वर्षो के सतत प्रयत्न के बाद वे इस स्थिति मे पहुंचे है। हमारे यहां ऐसा कोई सामुदायिक प्रयत्न नहीं है। स्वभाव-निर्माण के प्रयत्न को हमारे बहुत सारे विचारक रचनात्मक काम ही नहीं मानते। मेरी दृष्टि मे यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे अभी से अधिक प्राथमिकता मिलनी चाहिए। हर व्यक्ति, समाज या राष्ट्र शक्तिशाली बनना चाहता है, विकास करना चाहता है। अलगाव के वातावरण मे कोई शक्ति-संचय नही कर सकता, विकास भी नही कर सकता। ये दोनो कार्य एकता की स्थिति मे ही सम्भव है।

आपसी सघर्ष क्षण-भर के लिए सुखद प्रतीत होते हैं। उनके द्वारा जातीय, प्रान्तीय या भाषाई हित सधता-सा लगता है पर उनका परिणाम हितकर नही होता। उनसे आर्थिक स्थिति क्षीण हो जाती है। सन्देह और भय के वातावरण मे विकास ठप्प हो जाता है। अनेकता के दुष्परिणाम और एकता के सुपरिणाम जब संस्कारगत होते हैं, तभी एकता का विकास

होता है और अनेकता का ध्वंस। आज एकता की चर्चा है पर संस्कार नहीं है। शताब्दियों से अनेकता के संस्कार पल रहे हैं। आज की चर्चा, भावना या शिक्षा आज ही सस्कार नहीं वन जाती है। पर सतत प्रयत्न रहता है तो एक दिन निश्चित ही वह सस्कार वन जाती है। अनेकता के बीज बोने वाले उसके उतने दुष्परिणाम नहीं देखते, जितने भावी पीढी देखती है। एकता के लिए भी यही वात है। आज जो प्रयत्न होगा वह अगली पीढ़ी में सहज संस्कार बन जायेगा।

मैं अणुव्रत-आन्दोलन को मानवीय स्वभाव के परिवर्तन का माध्यम मानता हूं। व्रत का स्वभाव अव्रत से भिन्न होता है। भिन्नता यही कि व्रत की पृष्ठभूमि में दृष्टिकोण सम्यक् होता है और अव्रत मिथ्या दृष्टिकोण के आधार पर पलता है। बुराई को बुराई नही मानने वाला जितनी और जितने काल तक बुराई कर सकता है, उतनी और उतने काल तक बुराई मानने वाला नही कर सकता।

अधिकांश संघर्ष आवेगवश होते हैं। बहुत लोग नही जानते कि आवेग बुरा होता है। उन्हे कब सिखाया जाता है कि आवेग बुरा होता है? यह बहुत बडा दोष है कि हमारी शिक्षा-पद्धति आध्यात्मिक नहीं है। जिन राष्ट्रों ने एकता को पुष्ट किया है, उनकी शिक्षा-पद्धति आध्यात्मिक रही है। यही आपको चिन्ता होगी। पर मै नही मानता कि आध्यात्मिक नाम देने से कोई शिक्षा आध्यात्मिक होती है। जहा मनुष्य के चरित्र, व्यवहार और स्वभाव के परिमार्जन को मूल्य दिया जाता है, वहां आध्यात्मिकता सहज ही झलक पड़ती है। चरित्र-निर्माण के प्रशिक्षण के बिना कोई भी राष्ट्र सुसंस्कृत बना हो, यह नही लगता।

अणुव्रत-आन्दोलन जैसे दूसरे-दूसरे जो चारित्रिक संस्थान है, वे तथा सारे विद्यापीठ भी, चरित्र, व्यवहार और स्वभाव के परिमार्जन का प्रशिक्षण दें, तो थोडी अवधि मे ही एकता का परिपाक हो सकता है। वौद्धिक विकास, खेलकूद आदि का प्रशिक्षण मिलता है, वैसे मानसिक विकास और स्वभाव-निर्माण का प्रशिक्षण नही मिलता। यदि आज का हिन्दुस्तान अनैक्य की आर्त गवेपणा से व्यथित है तो उसे शीघ्र ही सहिष्णुता, सापेक्षता और उदारता के प्रशिक्षण की ओर ध्यान देना चाहिए।

प्रवाह को बदलिए

साधारण आदमी प्रवाह के पीछे-पीछे चलता है। वह उसे मोड नहीं सकता। उसे वही मोड सकता है, जो असाधारण हो। आज असाधारणता सत्ता और पैसे मे केन्द्रित हो रही है। जिनके हाथो मे सत्ता है, वे लोग चाहते है कि जन-साधारण भ्रष्टाचार न करे, सीधा-सादा जीवन बिताये। पैसे वाले लोग भी यदा-कदा सादगी का बखान करते रहते है। किन्तु जन-साधारण इन बातो पर कोई ध्यान नही देता। एक आदमी येन-केन-प्रकारेण सत्ता हथियाकर बडा आदमी बन जाता है, तब दूसरा आदमी भी यही सोचता है कि बड़ा बनने का यह रास्ता है जिस पर वह चल रहा है, वह नही है जो वह बता रहा है। एक आदमी भ्रष्ट तरीको से धन कमाकर बडा आदमी बन जाता है, तब दूसरा [illegible] सोचता है कि ऐसा करके ही कोई आदमी बड़ा बन सकता है। यह एक सामान्य प्रवाह है। इसे मोड दिये बिना भ्रष्टाचार का अन्त लाना कठिन हो रहा है।

प्रवाह को मोडने के लिए जीवन के मूल्यो को वदलना होगा। वडप्पन को वहा प्रतिष्ठित करना होगा, जहा सत्ता और पैसा प्रधान नही है, किन्तु उनका त्याग प्रधान है। बडा वह भी नही है, जिसमे सत्ता और पैसा पाने की क्षमता ही न हो और वडा वह भी नहीं है, जो भ्रष्ट उपायो से सत्ता और पैसा हथिया ले। वड़ा वह है जो क्षमता रखते हुए भी सत्ता और पैसा पाने के लिए भ्रष्ट उपायो का आलम्वन न ले। ऐसा आदमी ही प्रवाह को नया मोड दे सकता है।

प्रवाह को मोड वह दे सकता है जो समर्थ होते हुए भी सादा जीवन दिताये। वडप्पन और सादा जीवन दोनो एक साथ हो तो जनता उसका अनुसरण कर सकती है। बड़े कहलाने वाले लोग विलासी जीवन विताये तो जनता उसी ओर दौडेगी। उसे हजार प्रयत्न भी नही रोक सकते। मै

बहुत दिनों से यह अनुभव कर रहा हूं कि प्रवाह को मोड़ने के लिए वडे लोगों को आगे आना चाहिए। जो वड़े कहलाते है वे जैसे है वैसे के वैसे ही बने रहें और छोटे लोगों से यह आशा करें कि वे सदाचार, सन्तोष, सादगी, त्याग और निःस्वार्थ भाव को बढायें, वह दिवा-स्वप्न है।

प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने वड़ी कार का उपयोग छोड़ दिया। वे भारत की वनी हुई छोटी कार का उपयोग करेंगे ऐसा समाचार-पत्रो में पढ़ा है। यह जटिलता से सरलता की ओर एक कदम हो सकता है पर चालू प्रवाह इतना शक्तिशाली हो गया है कि उसे मोडने के लिए आज का समय ऐसे सैकडो कदम उठाने की प्रतीक्षा में है।

पजाब के मुख्यमन्त्री रामकिशन छोटे-से मकान में रहते हैं, रिक्शा मे बैठकर चले जाते हैं, ऐसा सुना है। इससे लगता है कि उनमे कृत्रिम बडप्पन से दूर रहने और चालू प्रवाह के प्रतिकूल चलने का साहस है। इस साहस ने पंजाब में एक नये वातावरण की सृष्टि की है। त्याग कठिन अवश्य है पर उससे सफलता इतनी मिलती है कि आदमी कल्पना भी नहीं कर सकता।

अनावश्यक वस्तुओं की बाढ और आवश्यक वस्तुओ की कमी ने जीवन को सचमुच जटिल बना दिया है। इस परिस्थिति को नियन्त्रण या कानून के बल पर नही मिटाया जा सकता है। एक ओर भारतीय सस्कृति, दर्शन और मानवीय मूल्यों की अमूल्य धारा रोटी की कठिनाई में सिमटती जा रही है, दूसरी ओर सत्ता और पैसे की दुनिया के प्रागण मे अनावश्यक वस्तुओ का खुलकर भोग हो रहा है। यह दशा आश्चर्यजनक ही नही, दयनीय भी है। यह तो और भी अधिक दयनीय है कि ऐसी स्थिति मे सत्ता, पद और शक्ति का का दुरुपयोग हो। शासन-तन्त्र के अधिकारी वर्ग मे रिश्वत का चक्र चले, व्यापारी वर्ग मे जमाखोरी और मुनाफाखोरी का चक्र चले। आखिर हर चीज की सीमा होती है। अव यह स्थिति सीमा तक पहुंच गयी है। अव सभल जाना ही श्रेयस्कर है। अव युग उन व्यक्तियो की प्रतीक्षा कर रहा है, जिनमे साहस हो और जो प्रवाह को नया मोड दे सके।

बड़े लोग पहल करें

समाज और अनुशासन में परस्पर सम्बन्ध है। अनुशासनहीन समाज हड्डियो का ढाचा-भर होता है। अनुशासन के दो अंग है—हृदय की पवित्रता और दण्ड। पहला व्यक्ति का चरित्र-विकास है और दूसरा है राजनैतिक कर्म। जनता का हृदय पवित्र हो तो दण्ड-प्रयोग की आवश्यकता कम होती है, अन्यथा अधिक। जहां कोरा दण्ड ही दण्ड चले, वह राष्ट्र स्वस्थ नही रह सकता। सामुदायिक रूप से पर्याप्त हृदय-शुद्धि हो जाये, यह भी कठिन काम है। इस स्थिति मे हृदय-शुद्धि और दण्ड यह दोनो चलते हैं।

दण्ड-नीति के विषय मे कौटिल्य का अभिमत है—"कठोर दण्ड देने वाला शासन जनता मे क्षोभ उत्पन्न करता है। मृत्युदण्ड देने वाले शासन की जनता अवहेलना कर देती है। उचित दण्ड देने वाले शासन के प्रति जनता नत होती है। जो शासन दण्ड का समुचित प्रयोग करता है वह जनता को धर्म, अर्थ और काम मे युक्त करता है। और जो अनुचित प्रयोग करता है, वह गृहस्थो मे ही नहीं, अपितु परिव्राजको मे भी विद्रोह की भावना पैदा कर देता है।"

दण्ड-नीति की यह सन्तुलित व्याख्या है। वह शासन सबसे अच्छा होता है, जिसे विशेष दण्ड का प्रयोग न करना पड़े। वह समाज भी उन्नत होता है जिसे दण्ड न झेलना पडे। ये दोनो बाते हृदय की पवित्रता का विकास होने पर ही हो सकती है। हम अपना आत्म-निरीक्षण करें कि हृदय की पवित्रता की ओर हमारा कितना ध्यान है?

जीवन का निर्माण वचपन से ही शुरू हो जाता है। बच्चो को हृदय की पवित्रता का उतना मूल्य नहीं समझाया जाता जितना दूसरी चीजो का समझाया जाता है। जीवन-कला का व्यवहार क्षेत्र युवावस्था है। युवको को

हृदय की पवित्रता की उतनी प्रेरणा नहीं मिलती, जितनी उसे अपवित्र बनाने की मिलती है। इस वातावरण मे राष्ट्रीय चरित्र का पतन होता है।

जनतन्त्र में शासनतन्त्र भी जनता से बहुत अपेक्षाएं रखता है। वह तानाशाही जैसा कठोर नही हो सकता। कठोरता के बिना अपराधो और अनियमितताओं का निराकरण नही हो सकता। अतः उसके लिए दूसरा मार्ग रहता है, हृदय-शुद्धि का।

शासकों के लिए भी

हृदय-परिवर्तन का जो प्रश्न है, वह केवल साधुओं के लिए महत्त्वपूर्ण नही है किन्तु शासक-वर्ग के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। असदाचार के कारण इतने बहुमुखी है कि उनका निवारण सबके सम्मिलित प्रयत्न से ही हो सकता है। कुछ लोग कहते हैं—"चरित्र-विकास करना तो आप जैसे महात्माओ का ही काम है। मैं मानता हू, इस दिशा मे प्रयत्न करना हम लोगों का काम है पर उसकी सफलता सबके सहयोग पर निर्भर है। चरित्र-पतन के कारणों पर जनता और सरकार ध्यान न दे तब हमारा प्रयत्न उतना कामयाब नहीं हो सकता। हमारा प्रयत्न, सरकार की स्वस्थ कार्य-पद्धति और जनता की तड़प—इन तीनो का योग मिले तभी पूर्ण सफलता की आशा की जा सकती है।"

नैतिक समस्या

सरकार, और समस्याओ पर जितना ध्यान देती है उतना नैतिक-समस्या पर, जो कि बहुत मौलिक समस्या है, नही देती, क्या शासनतन्त्र में कोई ऐसा विभाग आवश्यक नही जो राष्ट्र की नैतिक या चारित्रिक स्थिति की देख-भाल करे? अशोक के शासन-व्यवस्था मे एक धर्ममहामात्य होता था। वह धर्म-सम्वन्धी मामलो की देख-भाल करता था। विनय-चरित्र की देखभाल के लिए भी एक अधिकारी होता था। आज शायद वैसा कोई अधिकारी नहीं है। सव विभाग अपने काम मे इतने व्यस्त हैं कि उन्हे देश की चारित्रिक चिन्ता करने का अवकाश भी नही है।

गृहमन्त्री नन्दाजी ने सदाचार के विकास की आवाज उठायी पर वे भी अपने काम में इतने व्यस्त है कि इस काम के लिए पूरा समय नहीं

निकाल पाते। कोई भी प्रयत्न पूरी निष्ठा, शक्ति और एकाग्रता के बिना सफल नही हो सकता। इस स्थिति मे वैसा विभाग और अधिक अपेक्षित लगता है। मै नहीं समझता कि अब तक इस अपेक्षा की पूर्ति क्यो नही हुई है?

असदाचार अपनी जड़ें गहरी जमा चुका है। वह झोंको से हिलने वाला नहीं। उसे हिलाने के लिए शक्तिशाली वातावरण बनाना आवश्यक है। उसे ऊपर के लोग ही बना सकते हैं। वे इस दिशा में पहल करें। अपने व अपने आस-पस के वातावरण को इतना विशुद्ध बनाये कि कोई उस पर अंगुली न उठा सके।

अपनी पार्टी, अपना पक्ष आदि बातों से ऊपर उठे बिना असदाचार को मिटाने का स्वप्न केवल स्वप्न है। असदाचार का अन्त इसी दिन होगा जव मानवता का स्थान ऊंचा होगा।

बड़ा और छोटा

हिंसा से हिंसा बढती है और वैर से वैर वढ़ता है--इस शाश्वत सत्य से मनुष्य हजारों वर्षो से परिचित है। फिर भी हिंसा और वैर की पुनरावृत्ति क्यों हो रही है? यह एक रहस्यमय प्रश्न है। प्रश्न गम्भीर अवश्य है पर अजेय नहीं है। जो व्यक्ति एक बार हिंसा के क्षेत्र मे उतर जाता है, वह फिर सहज ही उससे बाहर निकल नहीं पाता। उसे चारों ओर वही दिखाई देती है--हिसा, हिंसा।

आत्मदर्शी मुनियो ने जो कहा--सब जीवो को आत्मतुल्य समझो, उसका आशय यही तो है कि किसी की उपेक्षा मत करो, तिरस्कार मत करो, घृणा मत करो। तुम्हारी उपेक्षा सन्देह को जन्म देगी। जो सदिग्ध होगा वह सहिष्णु नहीं होगा। जहां असहिष्णुता होती है, एक-दूसरे को सहन करने की क्षमता नही होती, वहां कोई अभय नही हो पाता। अभय के बिना शान्ति नही होती। यह हिंसा का चक्र है, जो आगे से आगे वढ़ता चला जाता है। आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हिंसा उत्तेजित हो रही है। प्रान्त, भाषा, राष्ट्र आदि विभाग जो मनुष्य-समाज की सुविधा के लिए हैं, वे ही उसके लिए भय-जनक हो रहे हैं। यह क्यो नही समझा जाता कि मनुष्य उसके लिए नहीं है, वे मनुष्य के लिए है। अर्थ के लिए मनुष्य नही है, वह मनुष्य के लिए है, यह भी नहीं समझा जा रहा है। वर्तमान जीवन की ये वडी गुत्थिया है, जो राजनीति के हाथों मे उलझती चली जा रही है। इन्हें सुलझाने का सरल या कठिन जो कोई उपाय है, वह व्रत है। सम्यक् दृप्टिकोण और अपने पर अपना नियन्त्रण है--यही है अहिसा। आज इसकी सर्वाधिक आवश्यकता है। इसी प्रेरणा को जागृत करने के लिए अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा अहिसा-दिवस मनाया जाता है। जो लोग वड़े हैं, मेरी भापा मे वडे वे है, जो अपने लिए व्रतो को स्वीकार

करना आवश्यक नहीं समझते, वे अपने निर्णय पर पुनर्विचार करे। मेरी भाषा में छोटे वे हैं,जो वर्तमान परिस्थितियों मे व्रतों को स्वीकार करना असम्भव मानते है, वे भी अपने निर्णय पर पुनर्विचार करे। जो लोग व्रती–न वड़े हैं और न छोटे हैं–वे अपने अनुभवों से दूसरो को लाभान्वित करें, अहिसा के सन्देश को आगे बढाये।

रुचि-भेद और सामंजस्य

जितने व्यक्ति हैं, उतने मानस हैं, जितने मानस हैं, उतनी रुचियां है। वे सब पूर्ण हों यह सम्भव नहीं और पूर्ण न हो तो विग्रह होना असम्भव नहीं। इन दोनों के बीच का मार्ग सामंजस्य ही है। जहा अनेकता और असामंजस्य है वहां निश्चित ही द्वन्द्व है। जहां सामंजस्य है वहा अनेकता भी एकता में परिणत हो जाती है। सामंजस्य का आधार है सहिष्णुता। वही परिवार-संस्था का आधार है। मनुष्य-जीवन का सबसे बडा रोग है आवेग। उस पर विजय पाये बिना कोई भी व्यक्ति सहिष्णु नहीं हो सकता। ऐसा कोई हो नहीं सकता, जिसे कोरी प्रियता ही मिले। और ऐसा भी कोई नही होता जिसका मनचाहा ही हो। उस स्थिति में मनुष्य कलह-प्रिय बनता है। सहिष्णुता में स्वर्ग अवश्य है पर उसकी सिद्धि प्रयत्नलभ्य है। असहिष्णुता सहज है, वह समय-समय पर नारकीय दृश्य उपस्थित करती है। फिर भी बहुजन समादृत है। बहुत लोग मानते है कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा समान है, सुख-दुःख की अनुभूति भी समान है; स्वतन्त्रता प्रिय है; अपनी-अपनी रुचि-पूर्ति की भावना सबमे ही रहती है, फिर भी वे दूसरो की रुचि-पूर्ति में बाधक बनते है। इस प्रकार यह शृंखला अनन्त हो जाती है। जिन्हें सापेक्ष-दृष्टि प्राप्त नही वे इस समस्या को कभी नहीं सुलझा सकते।

परिवार और क्या है? समन्वय-दृष्टि का बहुत वडा उदाहरण। एक-दूसरा एक-दूसरे के जीवन में विघ्न वने विना रहता है। जहां सापेक्षता वहुत स्पष्ट होती है, वहां सही अर्थ में परिवार बनता है। सामूहिक जीवन में दोनो स्थितियां पनप सकती है—प्रेम भी और कलह भी। जहा सहिष्णुता, सापेक्षता ओर उपेक्षा—ये तीनों होते है, वहां प्रेम पनपता है, आलम्वन पुष्ट होता है। जहां असहिष्णुता, निरपेक्षता और हस्तक्षेप होते

व्यस्त नहीं होते।

सहिष्णुता चिन्तन की परिणति है। विवेक उद्बुद्ध होता है। तब पर भरोसा होता है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास होता है। सहिष्णुता स्वयं पनप जाती है। हस्तक्षेप की प्रवृत्ति प्रायः विग्रह उत्पन्न करती है। क्वचित् वह उपयोगी हो सकता है। उसे दैनिक प्रवृत्ति का रूप देना उचित नहीं। पूज्य कालूगणी और मन्त्री मगनलालजी स्वामी दोनों अभिन्न हृदय थे। कुछ रुचियां दोनों की भिन्न थीं। वे जीवन-भर साथ रहे। किसी ने भी किसी की रुचि में हस्तक्षेप नहीं किया। प्रेम कभी नहीं टूटा। पारिवारिक जीवन का यह बहुत बड़ा मन्त्र है। मैं तो समूचे विश्व को एक परिवार मानता हूं। जो स्थिति दो में उत्पन्न हो सकती है वह सौ में भी हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति सौ में रहकर भी अकेला रह सकता है, और अकेला रहकर भी सौ में रह सकता है, वही मनस्तोष पा सकता है। बहुत्व में एकत्व (निरपेक्षता या तटस्थता) और एकत्व मे बहुत्व (सापेक्षता) ही सामुदायिक जीवन की सफलता का रहस्य है।

असदाचार का खेल

भावी पीढ़ी के निर्माण का दायित्व वर्तमान पीढ़ी पर होता है। वर्तमान पीढ़ी जैसी होती है वैसी ही भावी पीढ़ी बन जाती है। वर्तमान पीढी का आचार-विचार ही भावी पीढी में सक्रान्त होता है। वर्तमान पीढी का यह दोहरा दायित्व है कि वह अपने लिए भी और भावी पीढी के लिए भी सदाचार अपनाये।

प्रारम्भ के क्षणो मे असदाचार के परिणाम अच्छे लगते है और ऐसा लगता है कि असदाचार से ही आदमी धन कमा सकता है। पर जैसे-जैसे असदाचार की छाया लम्बी होती चली जाती है वैसे-वैसे ही आदमी के लिए वह डरावनी होती जाती है। आज असदाचार का बोलबाला है तो समस्या से मुक्त कौन है? अदालत मे राज्य कर्मचारी व्यापारी के लिए समस्या है तो दुकान में व्यापारी राज्य कर्मचारी के लिए समस्या है। रिश्वत देने की विवशता उनके सामने भी आती है, जो रिश्वत लेते हैं। कचहरी या सचिवालय में रिश्वत लेने वाला रेल के रिजर्वेशन या टिकट के लिए रिश्वत देता भी है। आटे में मिलावट कर बेचने वाला मिलावटी घी खरीदता भी है। यह किसी को अच्छा नहीं लगता कि दवा में मिलावट हो। पर आटे, घी और दूध मे मिलावट होगी तो दवा मे क्यो नही होगी? रिश्वत होगी तो मिलावट क्यो नही होगी और मिलावट होगी तो रिश्वत क्यों नहीं होगी? ये दोनो होंगे तो महंगाई क्यों नही होगी? कोई रिश्वत लेता है, कोई मिलावट करता है और कोई अनाज को गोदामो में भरकर महंगाई उत्पन्न करता है... यह सब काम अलग-अलग है पर ऐसा करने वालो का उद्देश्य एक ही है और वह है अधिक पैसा जोड़ना।

लगता है कि असदाचार शतरज का खेल है। इसे खेल-खेलकर लोग अपना जी बहला रहे हैं। जीत मे कोई नही है। जीत उन्ही की होगी, जो इस खेल से दूर हैं।

समाधान की अपेक्षा

मैं पद-यात्री हूं। गांव-गांव विहार करता हूं और जनता से मिलता हूं। इसीलिए मुझे देश के अन्तर्दर्शन का अवसर मिलता है। मैने इन दिनो जो देखा, वह समाधानक्रारक नहीं है। व्यक्ति का मन समाधान से खाली है।

भारतीय मानस मे अभी भी नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था है। किन्तु कुछ परिस्थितियां लोगों को विवश कर रही हैं। वर्तमान अनास्था उन्ही विवशताओ का परिणाम है। उन परिस्थितियों के निवारण का यह सर्वाधिक उपयुक्त समय है। बहुत लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि वर्तमान को नहीं सुलझाया गया तो उनका परिणाम भयंकर हो सकता है।

मुझे लगता है कि सत्तारूढ वर्ग का जितना आकर्षण अपने दल का अस्तित्व बनाये रखने में है, उतना समस्याओ के समाधान में नही है। आलोचक दलों का आकर्षण भी सत्ता को प्राप्त करने में अधिक है। सत्ता काम करने का साधन है—इस तर्क को मै स्वीकार नहीं करता, किन्तु जब सत्ता सत्ता के लिए वन जाये, तब समस्याएं बढ़ती हैं।

मुझे लगता है कि आज राजनैतिक दलों ने मनुष्यो को विभक्त कर रखा है। होना यह चाहिए कि मनुष्य आगे हो, दल पीछे। हो यह रहा है कि दल आगे हैं, मनुष्य पीछे।

दल शक्ति के माध्यम हैं, इस मान्यता का मैं विरोध नहीं करता, पर मनुष्य जाति की हित-साधना के लिए जो दल है, वे उसी को खण्डित करने लग जायें तब समस्याएं उलझती हैं।

यदि ऐसा नही हो रहा है तो मुझे प्रसन्नता होगी और यदि हो रहा है तो उसमें परिवर्तन लाने की वात सोची जाये। राजनीतिक लोग सम्प्रदायो की संकीर्ण मनोवृत्ति की कटु आलोचना किया करते थे, वे नही देखते कि आज राजनीतिक दल सम्प्रदाय का रूप ले रहे है और संकीर्ण मनोवृत्ति

को पोषण दे रहे हैं।

मै उस धर्म-सम्प्रदाय को बुरा मानता हूं जो मनुष्य को संकीर्ण दृष्टि से देखना सिखाता है और मैं उस राजनीतिक दल को भी उतना ही बुरा मानता हूं जो मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से नहीं देखने देता। मेरा सब दलों के लोगो से सम्बन्ध है और मैं किसी भी दल का नही हू। मेरे सामने दलगत व्यावहारिक उलझनें नही है, यह मैं जानता हूं। नीति-भेद और विचार-भेद होते हैं, वहां मनुष्य मनुष्य से उतना दूर चला जाता है, जितनी कल्पना नहीं होती पर उस दूरी का परिणाम गम्भीर होता है।

हर समस्या का मानवीय पहलू भी होता है। उसे उसी दृष्टि से देखना चाहिए। इसमें मानवता को अकल्पित समाधान मिलता है।

युद्ध और अहिंसक प्रतिकार

युद्ध एक चिरकालीन समस्या है। कुछ लोग समस्या का समाधान पाने के लिए युद्ध करते रहे है और कुछ लोग युद्ध की समस्या का प्रतिकार करने के लिए सोचते रहे हैं। कुछ लोगों की दृष्टि मे शक्ति-सन्तुलन ही युद्ध का प्रतिकार है और कुछ लोगो की दृष्टि में उसका प्रतिकार है अहिंसा। शक्ति-सन्तुलनवादी अस्त्र-शस्त्रों में विश्वास करते हैं, इसका अर्थ है, वे युद्ध मे विश्वास करते हैं। अहिंसावादी निःशस्त्रीकरण में विश्वास करते है, इसका अर्थ है वे युद्ध में विश्वास नहीं करते। सब अहिसावादी हों तो युद्ध शब्द का अस्तित्व ही न रहे, पर सब लोग वैसे नहीं है। जिनमे साम्राज्य-विस्तार का रस है, भय और सदेह है, जो भौतिकता में सर्वोपरि आस्था रखते हैं, वे युद्ध का अस्तित्व चाहते हैं। उन्होंने युद्ध को भयंकर समस्या के रूप मे देखा है, जिनकी आन्तरिक आस्था प्रबल है। वे युद्ध नहीं चाहते, फिर भी उन्हें यह उपाय नही मिला है, जिससे युद्ध का अस्तित्व मिट जाये।

पदार्थवाद की दृष्टि से मानव वहुत विकास कर चुका है पर अहिसावाद की दृष्टि से वह अभी वहुत कम विकसित है। जिस दिन सम्पूर्ण मनुष्य जाति युद्ध, अपहरण, शोषण आदि को दास-प्रथा की भाति अमानवीय कर्म मानने लगेगी, उस दिन उसका विकास एक निश्चित रेखा पर होगा। अभी इस स्थिति तक पहुंचने मे अनेक शताब्दियां और प्रचुर प्रयत्नो की आवश्यकता है। दास-प्रथा के विरोध में जो आवाज उठी थी, वह हजारो वर्षो के बाद पूर्णतः क्रियान्वित हुई। वैसे ही युद्ध के विरोध मे जो प्रवल स्वर उठेगा वह एक दिन अवश्य ही सफल होगा। हम निराश न हो, युद्ध के विरोध मे प्रवल आवाज उठाये और उठाते रहें।

युद्ध का प्रतिकार कैसे?

आज हमारा तत्काल चिन्तनीय विषय है--युद्ध का प्रतिकार कैसे हो? हिसा से हो या अहिसा से? शस्त्र से हो या अशस्त्र से? चीन ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया तब सारे देश में हिंसक-प्रतिकार एव सशस्त्र प्रतिरोध का स्वर प्रबल हो उठा। यह आश्चर्य की बात नही है। हिसक-प्रतिकार चिरकाल से परिचित है। उसमें मनुष्य की प्रबल आस्था है। अहिंसक-प्रतिकार से वह पूर्णतः परिचित नही है। युद्ध के अहिंसक-प्रतिकार का चिन्तन प्राचीन साहित्य में विशेष उपलब्ध भी नही है। भगवान् महावीर के श्रावक अनाक्रमण का व्रत लेते थे। पर प्रत्याक्रमण का अधिकार नही छोडते थे। महाराज चेटक किसी पर आक्रमण नहीं करते थे और आक्रान्ता पर भी एक बार से अधिक प्रहार नही करते थे। यह अहिसक प्रतिकार तो नहीं, किन्तु उस दिशा मे एक वहुत साहसी चरण था।

युद्ध दोनों पक्षों में

मनुष्य को युद्ध, शस्त्र-वल या पाशविक-शक्ति मे विश्वास न हो तो युद्ध की अन्त्येष्टि कर सकता है। युद्ध एक पक्ष से नहीं हो सकता, दोनो पक्ष लडते है, तब वह होता है। एक लडे और दूसरा न लडे तव आक्रमण हो सकता है, युद्ध नही। प्रत्याक्रमण न होने पर आक्रमण अपने-आप शिथिल हो जाता है। जैसे झूठी अफवाहों से आक्रान्ता को वल मिलता है वेसे ही प्रत्याक्रमण से भी बल उसे वल और वेग मिलता है। राक्षस से लडो, तुम्हारी शक्ति उसमे सक्रान्त हो जायेगी, उसकी शक्ति दूनी हो जायेगी। उससे मत लडो, उसकी शक्ति क्षीण हो जायेगी। प्रत्येक आवेग की यही स्थिति है। युद्ध एक आवेग है। वह एकपक्षीय होकर प्रवल नही हो सकता। वह प्रवल तभी वनता है, जब आवेग के प्रति आवेग आता है, आक्रमण के प्रति आक्रमण होता है। पर जो लोग 'विपस्य विपमौपधं' या कण्टकात्कण्टकमुद्धरेत्' या 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' जैसे नीति-वाक्यों मे विश्वास करते है, वे इस वात मे कैसे विश्वास करेगे कि आवेग के प्रति आवेग न किया जाये, आक्रमण के प्रति आक्रमण न किया जाये।

दूध का उफान जल का छींटा देने से शान्त होता है। लोग इस प्रक्रिया को जानते है पर यह प्रक्रिया सर्वत्र सफल होती है, ऐसा वे नहीं मानते। विश्व मे युद्ध के अहिसक प्रतिकार का कोई उदाहरण भी नही है इसलिए उसे सहज मान्यता मिल भी कैसे सकती है? आज तो हमारे लिए यही प्राप्त है कि हम इस विषय पर विशुद्ध चर्चा करें, मन्थन करे, सम्भव है कोई निष्कर्ष निकल आयेगा, नवनीत निकल आयेगा, कोई भी आक्रान्ता अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरे पर आक्रमण करता है और वह तभी करता है, जब सामने वाला अशक्त और कायर जान पडता है। आक्रमण को रोकने के लिए दो ही उपाय हैं—

(१) शक्ति, (२) पराक्रम।

शक्ति शस्त्र-सज्जा मे होती है और अभय मे भी। पराक्रम शरीर मे भी होता है और मन मे भी। जिन्हे यह भय होता कि हमारा प्रदेश कही दूसरो के हाथ में चला न जाये, वे शस्त्र-शक्ति और शरीर-बल से आक्रमण को विफल करना चाहते है और जिन्हे किसी भी बात का भय नही होता, जो केवल मानवीय एकता मे अदम्य विश्वास रखते है वे उसे विफल करना चाहते हैं, अभय से और मनोबल से। आक्रमण दोनों के लिए असह्य है। पर प्रतिकार की पद्धतियां एक नही हैं। मौत से न डरे, यह सैनिक के लिए भी पहली शर्त है और अहिंसक के लिए भी। शस्त्र-सज्जित होना सैनिक की दूसरी शर्त है, किन्तु अहिंसक की नही। शरीर-बल का प्रयोग करना सैनिक की तीसरी शर्त है किन्तु अहिसक की नही।

अहिंसक प्रतिकार का मार्ग

जो आक्रमण का अहिसक प्रतिकार करना चाहेगा—

१. वह अभय होगा, मौत से नही डरेगा।

२. वह प्रेम से ओत-प्रोत होगा—मानवीय एकता मे अटूट आस्था रखेगा। आक्रान्ता के प्रति मन मे घृणा नही लायेगा।

३. वह मनोवली होगा—अन्याय से असहयोग करने की भावना को किसी भी स्थिति मे नही छोडेगा।

अभय, प्रेम और मनोवल की दीक्षा से दीक्षित व्यक्ति आक्रमण को

जिस तत्परता से विफल कर सकते है, उस तत्परता से उसे वे सैनिक विफल नही कर सकते, जो शस्त्र-सज्जित और शरीर-बल से समर्थ होते है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसी भाव से लिखा था—युद्ध में विजय सदिग्ध होती है और जन-सहार निश्चित। इसलिए जब तक दूसरे उपाय सम्भव हो, तब तक युद्ध न किया जाये। मै इसे इस भाषा मे सोचता हूं—युद्ध मे विजय निश्चित हो, फिर भी वह न किया जाये। क्योकि वह समस्या का समाधान नही। वैज्ञानिक युग का मनुष्य क्या वायुयान को छोड वैलगाडी मे यात्रा करना पसन्द करेगा? आज का बुद्धिवादी मनुष्य विश्व-राज्य की कल्पना को छोड युद्ध करना पसन्द करेगा? युद्ध आज के विकसित मानव के सिर पर कलक का टीका है। सचमुच इसे दफनाकर ही मनुष्य अपने-आपको बुद्धिवादी कहाने का अधिकारी है।

प्रत्याक्रमण का विकल्प

जो लोग यह सोचते है कि आक्रमण प्रत्याक्रमण से ही विफल हो सकता है, उनका चिन्तन विकल्प-शून्य है। किन्तु अहिसावादी का चिन्तन निर्विकल्प नहीं है। उसकी दृष्टि मे प्रत्याक्रमण का विकल्प है, अहिसक प्रतिकार नही।

कुछ लोग यह मानते है—हिसक प्रतिकार की अपेक्षा अहिसक प्रतिकार श्रेष्ठ है, पर प्रश्न यह है कि वह कैसे किया जाये? मै मानता हू—अनुशासन, अभय, प्रेम और मनोवल का विकास हो तो अहिंसक प्रतिकार करने मे कोई कठिनाई नही होती। हमे जनता को इन तीन वातो से दीक्षित करना चाहिए कि वह आक्रमण का अहिसक प्रतिरोध करने के लिए आक्रान्ता का सहयोग न करे, उसका शासन स्वीकार न करे और उसके अनुचित पग का विरोध करे। चौथी वात यह है कि जव तक आक्रान्ता अपने देश से लौट न जाये, तब तक इस प्रतिकार पद्धति मे शिथिलता न आने दे। यह प्रतिकार की पद्धति कभी विफल नहीं होगी। यह सही है कि आक्रान्ता के साथ असहयोग करने पर कष्ट झेलने पड़ते हैं, उसका शासन स्वीकार न करने पर यातनाए सहनी पडती है, उसका विरोध करने पर वाधाओ का सामना करना पड़ता है, किन्तु यह सव सहे जा सकते है जव अहिसा जनता का आत्म-धर्म वनता है और उसकी आराधना

के लिए वह अनुशासित, अभय, प्रेममय और मनोबली बनता है।

महात्मा गांधी अहिंसा का धर्म मानते थे और कांग्रेस ने उसे नीति के रूप मे स्वीकार किया था। महात्मा गांधी जन-मानस के प्रेरक थे ओर काग्रेस ने शासन का भार सभाला। यही कारण है कि काग्रेस सरकार ने शस्त्र-सज्जा को प्रोत्साहन दिया और अहिंसक प्रतिकार का मार्ग चुना। अहिंसा उसका धर्म होता तो ऐसा कभी नहीं होता पर वह उसकी नीति थी, इसलिए उसमें परिवर्तन हुआ। धर्म सर्वथा अपरिवर्तनीय होता है, नीति अपरिवर्तनीय नही होती।

मेरे लिए अहिसा नीति नही किन्तु आत्म-धर्म है। मै उसे छोड कोई बात सोच ही नही सकता। हिंसा का समर्थन मेरे लिए सर्वथा असम्भव है। मैं भारतीय नागरिक को यही परामर्श दूंगा कि वह अहिसा के प्रतिकार के लिए शक्ति-संचय करे और युद्ध के कगार पर खड़े हुए विश्व के सामने एक आलम्बन प्रस्तुत करे।

धर्म और जीवन-व्यवहार

जून मास की चिलचिलाती धूप और उमस भरे मौसम मे आप लोग देश की राजधानी दिल्ली मे एकत्रित हुए है। क्यो आए है आप लोग? क्या किसी पिकनिक या परिभ्रमण की योजना लेकर आए है? नही, दिल्ली का यह मौसम इसके लिए अनुकूल नहीं है। फिर भी आप लोग आए है, सोच-समझकर आए हैं, इसलिए कोई ठोस योजना लेकर आए हैं, ऐसा अनुभव हो रहा है। आज हमारे देश में अभाव, महगाई, वेरोजगारी, भ्रष्टाचार, शोषण, अतिरिक्त सग्रह आदि न जाने कितनी समस्याए उग्र रूप लिये खडी हैं। क्या आप इनका समाधान पाने के लिए आए है? आपके चेहरों पर शान्ति और आंखों में पुलकन स्पष्ट कर रही है कि इन क्षणो मे आप इन समस्याओ से प्रभावित नही है। यह सव नही है तो फिर आपके आने का उद्देश्य? एक धर्माचार्य के पास आपकी उपस्थिति? शायद आप आत्मविद्या के जिज्ञासु बनकर आए है। धर्म और अध्यात्म के वारे में युगवोध के संदर्भ में कुछ जानना चाहते है। धर्म और जीवन-व्यवहार के पारस्परिक सम्बन्धो को समझना चाहते हैं। तो अब इस चर्चा के लिए स्वय को तैयार कर लीजिए। हमें धर्म के स्वरूप-विश्लेपण के साथ उसकी मूल्यवत्ता पर विचार करना है।

अर्थ-वोध की भूमिका पर धर्म शव्द का प्रयोग विभिन्न रूपो मे हुआ है। स्वभाव, कर्तव्य, कुल-परम्परा, उपासना-पद्धति, अध्यात्म आदि अर्थो मे धर्म शव्द अपनी सम्पूर्ण व्यापकता के साथ व्यवहृत हुआ है। सुधी व्यक्ति इन अर्थो के साथ रही हुई अपेक्षाओ को समझ लेते है किन्तु जन-साधारण के लिए एक उलझन खडी हो जाती है। सामान्य व्यक्ति सन्दर्भो को नही समझते, व्यवहार को देखते है। यही कारण है कि ध्यान, धारणा और समाधि से लेकर सामान्य जीवन-व्यवहार तक धर्म शव्द

प्रयोग हुआ। आगे चलकर धर्म शब्द कुछ विशेष प्रवृत्तियो के साथ जुड़कर रूढ़ हो गया। केवल क्रियाकाण्डो के साथ आबद्ध होकर धर्म शब्द अव्यावहारिक हो गया। व्यवहार और अव्यवहार, इस द्वन्द्व के बीच मे उलझे हुए धर्म विचारों की अनेक परतें आती गई और धर्म के सम्बन्ध में अनेक नई धारणाओं ने जन्म लिया।

यूनान के महान् तत्त्ववेत्ता सुकरात के शिष्य डायोजिनीज के पास एक ऐसा ही व्यक्ति पहुंचा जो धर्म की धारणाओ में उलझा हुआ था। जिस समय वह डायोजिनीज से मिला और उसने धर्म के बारे में अपनी जिज्ञासा रखी, डायोजिनीज बहुत व्यस्त था। उसने आगन्तुक को फिर कभी आने के लिए कहा।

आगन्तुक जाने लगा तो वह बोला—अच्छा हो तुम अपना पता मुझे बता दो, मैं तुम्हें लिखित उत्तर भेज दूंगा। आगन्तुक ने इसमें विशेष सुविधा का अनुभव किया, क्योंकि पुनः वहां तक आना नही पड़ेगा और लिखित उत्तर मनन में भी सहायक बन सकेंगे। आगन्तुक ने अपने निवास-स्थान का पता बताया।

डायोजिनीज ने पूछा—"क्या यह तुम्हारा स्थायी पता है?"

आगन्तुक—"हां, लगभग यहीं रहता हूं। कभी-कभी बाहर जाता हू। मै आपको अपने घर का पता बता देता हूं। मै कही भी रहूगा, घर के पते पर भेजा हुआ पत्र मुझे प्राप्त हो जाएगा।"

"डायोजिनीज ने एक बार फिर उसे स्थायी पता सोचने के लिए विवश किया। आगन्तुक झुंझला उठा।" डायोजिनीज ने अवसर देखकर कहा—"मरने के वाद तुम कहां रहोगे, वहां का तुम्हारा पता क्या है?" आगन्तुक उत्तेजित हुआ और अपने हृदय पर दोनों हाथ रखकर वोला—"कहां क्या? यहा रहूंगा। तुम्हें मेरे प्रश्नो का उत्तर देना हो तो दो अन्यथा मै जाता हूं।"

डायोजिनीज मुसकराता हुआ कहने लगा—"हा, इस वार तुमने सही पता वताया है। अव मुझे पत्र देने की जरूरत नही है। तुम स्वयं समझ रहे हो धर्म क्या है? धर्म है आत्म-रमण। जिस क्षण तुम आत्मलीनता का अनुभव करोगे, धर्म के सारे रहस्य अनावृत हो जाएंगे। आत्मा को छोडकर धर्म की कोई अवस्थिति नहीं है।"

भगवान् महावीर के सामने प्रश्न आया—"धर्म क्या है?" भगवान् ने उत्तर दिया—"किसी प्राणी का हनन मत करो, उसे परितापित मत करो, अपने अधीन मत बनाओ और उस पर अनुशासन मत करो, यह अहिंसा-मूलक धर्म ही ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।"

धर्म सार्वभौम और शाश्वत तत्त्व है। इसमे नवीनता और प्राचीनता का भेद साम्प्रदायिकता के कारण उभरा है। साम्प्रदायिक भेद वैचारिक मतभेदो से निष्पन्न है। सम्प्रदाय को ही धर्म मानना धर्म के मूल स्वरूप को नहीं समझने का परिणाम है। मेरे अभिमत से सम्प्रदाय फल की सुरक्षा के लिए छिलके के समान है। सम्प्रदाय व्यक्ति को धर्मोपासना की सुविधा देता है, व्यक्ति की आस्था को आलम्बन देता है और सामूहिक उपासना का वातावरण देता है। किन्तु कोई भी सम्प्रदाय धर्म नही है। धर्म और सम्प्रदाय की यह भेद-रेखा हमारे सामने स्पष्ट होनी चाहिए।

धर्म प्रदर्शन के लिए नहीं, जीवन-व्यवहार में परिव्याप्त होने के लिए है। धर्माचरण करने वाले व्यक्ति का व्यवहार तदनुरूप नही होता है तो धर्म उसको त्राण नही दे सकता। धर्म क्रिया है। हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। धर्म की प्रतिक्रिया है व्यवहार। व्यवहारो में यदि धर्म की पुट है तो धर्म का उपयोग है अन्यथा एक धार्मिक और अधार्मिक के वीच विभाजन रेखा क्या होगी?

आज युवा-पीढी पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह धर्म-विमुख हो रही है। इस आरोप की यथार्थता को समझने के लिए यह जानना वहुत जरूरी है कि युवक किस परिस्थिति मे धर्म को नकारते है। क्या उनके मन मे धर्म के प्रति घृणा का उपेक्षाभाव है? क्या वे धर्म को अन्धविश्वास मानते है? क्या धार्मिको के प्रति उनकी सहानुभूति नही है? क्या वे धर्म के वारे मे अपनी धारणाओं में संशोधन चाहते है? इन सब प्रश्नो के संदर्भ में मेरे सामने वर्तमान युवा पीढी का एक रेखाचित्र अंकित हो जाता है।

मेरा ऐसा विश्वास है कि कोई भी चिन्तनशील व्यक्ति धर्म-विमुख नही हो सकता। धर्म की अनुपालना कौन कितनी करता है, यह एक भिन्न प्रश्न है, किन्तु धर्म-अनिवार्यता का अनुभव प्राय. लोगो को होता है। युवा पीढ़ी की धर्म-विमुखता का कारण है—धार्मिको का धर्म-शून्य

व्यवहार। एक धार्मिक व्यक्ति देव-गुरु की उपासना करता है, प्रवचन सुनता है, सामायिक करता है, उपवास पौषध, कीर्तन, सत्संग, स्वाध्याय, ध्यान आदि अनेक क्रियाएं करता है। मुंह से समय-समय भगवान् का नाम जपता है, किन्तु जीवन प्रामाणिक नहीं है, जीवन मे संयम ओर समता का भाव नहीं है, उत्तेजना और अहं हावी हो रहा है। उस धार्मिकता से व्यक्ति का क्या हित सधता है? प्रतिदिन उपदेश सुनने पर भी जीवन की दिशा में परिवर्तन नहीं होता, क्या वैसे धर्म का जीवन मे कोई उपयोग है?

मै उस धर्म का पक्षपाती नही हूं जो केवल क्रियाकाण्डो तक सीमित है, जो जड उपासना पद्धति से सम्वन्धित है, जो अवस्था विशेष के बाद ही किया जाता है अथवा जिसमे अन्य सब कार्यो से निवृत्त होने की अपेक्षा रहती है। मेरी दृष्टि में धर्म है जीवन का स्वभाव। धार्मिक व्यक्ति किसी भी क्षण स्वयं को धर्म से शून्य अनुभव नहीं कर सकता। धर्माचरण के लिए अतिरिक्त समय की भी अपेक्षा नही है। आप कुछ भी करें, धर्म का आदर्श सामने रखकर चले। धार्मिक संस्कारो से वासित व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्येक व्यवहार में धर्म को अभिव्यक्ति देता है। अमृतपान करे और व्यक्ति अमर न बने, भोजन करे और भूख न मिटे, विश्राम करे और थकान न उतरे तो मानना होगा कि उस अमृत, भोजन और विश्राम मे पूर्णता नही है।

इसी प्रकार व्यक्ति धर्माचरण करे और जीवन में पवित्रता का, शान्ति का अनुभव न हो, संत्रास और तनावों का घेरा व्यथा देता रहे तो मानना होगा कि या तो धार्मिक व्यक्ति औपचारिक रूप से धर्माचरण करते है या धर्म के नाम पर और कुछ घटित हो रहा है।

एक राजकुमार ने पहली बार सन्तो का प्रवचन सुना। सन्तों ने धर्म का सूक्ष्म विश्लेषण किया। राजकुमार के मन पर इसका गहरा प्रभाव पडा। वह राज्य, वैभव, परिवार—सव कुछ छोड़कर मुनि वन गया। मुनि-धर्म की साधना मे उसे अपूर्व आत्मतोप का अनुभव हुआ। उसने परिपार्श्व का अध्ययन किया। प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनने वालों को निकटता से देखा। उसका कोमल अन्त.करण जिज्ञासाकुल हो गया। एक दिन प्रवचन के समय वह श्रोताओं की सभा में गया और एक-एक व्यक्ति

को झकझोरने लगा। गुरु ने उसको ऐसा करने का कारण पूछा तो वह बोला—

मैं तो एक वचन सुण्यो, सीधो हुग्यो सरड।
थे हमेशा सुण रह्या, थांरै कान है के दरड।।
मैं तो एक वचन सुण्यो, ऊभो घर दियो छोड़।
थे हमेशा सुण रह्या, मनुष्य हो के ढोर।।

गुरुदेव! मै देख रहा हू कि इनमे से किसी मे चेतना है या ये सारे बुत बने सुन रहे है। प्रतिदिन उपदेश सुनते है पर जीवन-व्यवहार उन्नत नही है। क्या ये आपके उपदेश का कोई मूल्य ही नही समझते? धर्म और उपासना का सार जीवन की विशुद्धि है। क्षमा, निर्लोभता, ऋजुता और मृदुता—ये चार धर्म के द्वार है। जब तक मनुष्य इन द्वारो के निकट नही पहुंचेगा, धार्मिक जीवन मे प्रवेश कैसे कर सकेगा? धर्म से शान्ति उपलब्ध होती है, यह बात कहने की नही, अनुभव करने की है। अनुभव के बाद जो बात कही जाती है, वही वास्तविकता है।

बन्धुओ! धर्म को आप अपने जीवन से काटकर मत देखिए। जीवन से कटने वाला धर्म नीरसता देता है। धर्म के सम्बन्ध मे आप अपना चिंतन स्पष्ट कर लीजिए। धार्मिक वृत्ति से आप अपने जीवन की हर प्रवृत्ति मे अधिक जागरूकता और सक्रियता से प्रवेश पा सकते हैं। आपका जीवन-व्यवहार धर्म से अनुप्राणित हो, आपका मन, वचन और कर्म धर्म की प्रेरणा से प्रकम्पित हो। आपके मन मे मानवीय मूल्यो के प्रति आदर के भाव हों, और नैतिक और प्रामाणिक जीवन आपका लक्ष्य हो, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आपको अपने ओर अपने परिपार्श्व के रूढ संस्कार, अर्थहीन गलत मानदण्ड, बद्धमूल धारणाए, प्रदर्शन और प्रतिष्ठा का व्यामोह इन सबके साथ दीर्घकालीन संघर्प करना होगा। इस संघर्प मे विजयी होने वाला व्यक्ति धर्म और जीवन-व्यवहार के सम्बन्ध मे अधिक स्पष्टता और समग्रता से जानकारी कर सकेगा। इस सूचना के साथ मै इस साप्ताहिक शिविर का शुभारम्भ करता हू और यह अपेक्षा करता हू कि सत्रकाल मे ही आप धर्म के सम्बन्ध मे अपनी धारणाओं को सही रूप दे सकेगे।

स्याद्वाद

जैन दर्शन का आचार-पक्ष अहिंसा और विचार-पक्ष अनेकान्त के आधार पर पल्लवित हुआ है। आचार और विचार की अभिव्यक्ति या उसे व्यावहारिक रूप देने का साधन है वाणी। वाणी का प्रयोग गलत न हो या उससे किसी के चिंतन को आघात न लगे इस दृष्टि से जैन दार्शनिकों ने कहा—"हमारी वाणी का आधार स्याद्वाद हो।" स्याद्वाद अर्थात् अनन्त धर्मात्मक वस्तु का अपेक्षा-भेद से प्रतिपादन। स्याद्वाद, सापेक्षवाद, सहअस्तित्व, अपेक्षावाद आदि शब्द पर्यायवाची हैं।

एक वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, अनेक धर्मो की स्वीकृति का सिद्धान्त अनेकान्त दर्शन कहलाता है। अनेकान्त एक दर्शन है इसलिए यह प्रतिपाद्य है। इसका प्रतिपादन जिस पद्धति से होता है, उसका नाम स्याद्वाद है। दर्शन को वाणी का विषय बनाने में स्याद्वाद का वहुत बड़ा उपयोग है। स्याद्वाद का आधार न लिया जाए तो व्यावहारिक और दार्शनिक दोनों दृष्टियो से काफी उलझनें खड़ी हो जाती हैं।

एक व्यक्ति कवि है, लेखक है, वक्ता है, कलाकार है, चित्रकार है, संगीतकार है, इतिहासकार है, दार्शनिक है, और भी न जाने क्या-क्या है। कविता-गोष्ठी में उसका कवि-रूप सामने आता है। उस समय उसकी दूसरी-दूसरी विशेषताएं समाप्त नहीं हो जाती पर एक समय में एक विशेषता की ही चर्चा होती है। उसके लिए कोई यह कहे कि यह कवि ही है, इस कथन में सत्यता नहीं रहती। इसलिए स्याद्वाद को समझने वाला व्यक्ति कहेगा—"स्याद् यह कवि है।" एक अपेक्षा से यह कवि है किन्तु अन्य अपेक्षाओं से वक्ता, लेखक आदि भी है, जिनकी चर्चा का यहां प्रसंग नहीं हे। वर्तमान में जो विशेषता चर्चा का विपय होती है, वह प्रधान वन जाती है और अन्य विशेपताएं गौण हो जाती हैं। इस दृष्टि से

स्याद् शब्द परिपूर्ण सत्य का वाचक बन जाता है।

अपूर्ण सत्य व्यक्ति के मन में भ्रम उत्पन्न कर देता है। उसके आधार पर वह सही या गलत का निर्णय नहीं कर पाता। वस्तु एक है और उसे जानने या देखने वाले अनेक हैं। सबके पास अपनी-अपनी दृष्टियां है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से समझी हुई वस्तु का स्वरूप एक समान नही हो सकता। एक हिमालय पर्वत के बारे में व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न धारणाओं के आधार पर आप इस तथ्य को अधिक स्पष्टता से समझ सकते हैं।

चार पर्वतारोही हिमालय की एवरेस्ट चोटी पर पहुचे। चारों व्यक्ति चार स्थानो में खडे थे। वहां से उन्होंने हिमालय पर्वत के चित्र लिये। चारो अपने-अपने चित्र लेकर लोगो से मिले। उन्होने सबको चित्र दिखाए और कहा—हिमालय ऐसा है। चारों चित्रो में असमानता थी। प्रत्येक पर्वतारोही अपने चित्र को सही वता रहा था। दर्शक लोग उलझन मे पड गये। आखिर एक व्यक्ति ने सबकी उलझन समाप्त करते हुए वताया—'ये चारों चित्र हिमालय के है।' चूकि ये भिन्न-भिन्न स्थानो से लिये गए है, इसलिए इनमें भिन्नता स्वाभाविक है। अमुक स्थान पर खड़े होने से जो दृश्य दिखाई देता है, वह दूसरे स्थान से दृष्टिगोचर नही हो सकता। दृष्टिकोण की भिन्नता से तथ्यों मे भिन्नता आ जाती है। आप चारो व्यक्ति सही हैं। चारों के चित्र हिमालय के चित्र है पर इनके साथ स्थान विशेष की विवक्षा जोड़नी होगी।

एक ही वृक्ष भिन्न-भिन्न ऋतुओं मे भिन्न रूपो मे परिवर्तित हो जाता है। कभी वह सूख जाता है, कभी हरा-भरा होता है और कभी फलो से लद जाता है। एक राजा के तीन राजकुमारो ने एक आम के वृक्ष को भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे देखा। एक दिन वे तीनो उस वृक्ष के निकट से गुजरे। छोटे राजकुमार ने कहा—'भैया! आम का वृक्ष कितना सुदर है।' दोनो भाई यह सुनकर हस पडे और बोले—'ऐसा नही होता है आम का वृक्ष।' उन्होने जिस रूप में आम के वृक्ष को देखा उसका उसी रूप मे वर्णन किया। तीनों राजकुमार असमजस मे पड गए और बोले—"हमारे सचिव ने हमको वहका दिया। आम का वृक्ष तीन प्रकार का कैसे हो सकता है!" मन्त्री को उद्यान मे बुलाया गया। राजकुमारो ने अपना

असंतोष प्रकट किया। मंत्री मुसकराने लगा। मंत्री की मुसकराहट से कुछ उग्र होकर बड़ा राजकुमार वोला—'एक भी आम का फल नही है इस वृक्ष पर और तुम कहते हो यह आम का वृक्ष है।' मुझे तुमने वृक्ष दिखाया वह तो पके-पके आमों से लदा हुआ था। मंझला राजकुमार बोला—'मुझे तुमने जो वृक्ष दिखाया, उस पर तो केवल पत्ते-ही-पत्ते थे। इस वृक्ष पर मंजरिया फूट रही हैं, यह आम का वृक्ष कैसे हो सकता है?, छोटा राजकुमार उस वृक्ष को आम का वृक्ष बता रहा था और दोनों वड़े राजकुमार उसे नकार रहे थे।

मंत्रीराज मधुर और विनम्र शब्दों में बोले—"मैंने आपको गलत नही बताया और आपने भी गलत नही समझा। आप तीनों का कथन सही है। मैंने छोटे राजकुमार को इस मौसम (चैत्र मास) का आम-वृक्ष दिखाया था। मझले राजकुमार को सर्दी के मौसम मे आम का वृक्ष दिखाया था और बड़े राजकुमार को आषाढ़ महीने में पके-पके आमो से लदा हुआ वृक्ष दिखाया था। वृक्ष एक ही है, समय के भेद से इसके स्वरूप में अन्तर आ गया। अमुक-अमुक अपेक्षा से आम का पेड ऐसा होता है। इस प्रकार समझाने के बाद आप सबकी उलझन समाप्त हो जाएगी।"

उपर्युक्त दोनो उदाहरण स्याद्वाद का बोध कराने मे सहायक है। एक वस्तु को हम भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखेगे तो उसके स्वरूप मे अन्तर निश्चित रहेगा। इस अन्तर को समझने के लिए उन-उन दृष्टियो को समझना आवश्यक है और यही स्याद्वाद है। जैन दर्शन मे इसका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो युवक जैन दर्शन के प्रति आस्थावान है उन्हे जन्म-घूंटी की भाति स्याद्वाद के सस्कार मिलने चाहिए। किन्तु बहुत-से युवक स्याद्वाद के बारे मे अनजान है। सम्यक् जानकारी के अभाव मे इसका व्यावहारिक स्तर पर भी उपयोग नही कर पाते।

स्याद्वाद की उपयोगिता दार्शनिक दृष्टि से जितनी है, व्यावहारिक दृष्टि से उससे बहुत अधिक है। हम अपने दैनन्दिन व्यवहारो मे इसका पूरा उपयोग करते है, फिर भी तात्त्विक दृष्टि से सव लोग उसका वोध नहीं कर सकते। एक व्यक्ति को कोई वच्चा नाना कहकर पुकारता है और कोई दादा कहकर पुकारता है। किसी के साथ उसका रिश्ता भाई का है, कोई उसे मामाजी कहता है। किसी के लिए वह पिता है, किसी के

लिए पुत्र है। और भी न जाने किन-किन सम्बोधनों से वह सम्बोधित होता है। एक व्यक्ति की इतने रूपो मे पहचान कराने का हेतु यह अपेक्षावाद ही है, अन्यथा एक व्यक्ति के पीछे विभिन्न विशेषण जोड़ने का कोई आधार नही रहता है।

पूज्य कालूगणी ने जिस समय मुझे आचार्य-पद का दायित्व दिया, मेरी अवस्था वाईस साल की थी। बहुत लोगों ने कहा—'आचार्य बहुत छोटे है।' मुनि मगनलालजी को जब इस बात का पता चला, वे बोले—'कौन कहता है हमारे आचार्य छोटे है?' इनकी अवस्था बयासी वर्ष की है। दोनो वाते कितनी विरोधी है। वाईस वर्ष का तरुण बयासी वर्ष का बुजुर्ग कैसे हो सकता है? पर उन्होने स्याद्वाद का प्रयोग किया और अपने कथन के पीछे एक अपेक्षा जोड दी। उनकी दृष्टि से पूज्य कालूगणी ने अपने साठ वर्षो के अनुभवों से मुझे लाभान्वित किया, इसलिए उनकी अवस्था का मेरी अवस्था के साथ योग हो गया। इस सापेक्ष दृष्टि के आधार पर ही उन्होने २२ वर्ष और ८२ वर्ष इन दो विरोधी बातो को अविरोधी बना दिया।

स्याद्वाद अनाग्राही चितन का प्रतीक है। आग्रही मनोवृत्ति सत्य के ज्ञान और उसकी उपलब्धि मे वाधा है। आग्रह व्यावहारिक जीवन को भी नीरस वना देता है, क्योकि उसके पास चितन का दूसरा विकल्प नही रहता, जवकि स्याद्वाद के पास अनेक विकल्प ऐसे है जो पदार्थ का सर्वांगीण वोध कराने मे सक्षम है। इस तथ्य को समझने के लिए आप एक घडी को माध्यम वनाइए।

एक भाई की कलाई पर घडी वंधी हुई है। आप सव देख रहे है, मै देख रहा हू। सब जानते है कि यह घडी है, पर मै इससे भिन्न अभिमत रखकर कहता हूं, यह घडी नहीं है—"आप कहेगे जो प्रत्यक्ष है, उसे कैसे झुठलाया जा सकता है।" मैं कहूगा—"जो स्पष्ट रूप से नही है, उसका अस्तित्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है?" आप मेरी वात से सहमत नहीं होगे और मै आपकी वात को सही नही मानूगा। इस स्थिति मे हमारे बीच विचार-भेद की एक दीवार खडी हो जाएगी और दूर होते चले जाएगे। स्याद्वाद को समझकर हम इस विचार-भेद का आधार समझ

सकते हैं और एक-दूसरे के निकट आ सकते हैं। अव मैं अपने कथन के साथ उन अपेक्षाओ को जोडता हूं, जो हमे सत्य के निकट ले आती है।

आप लोग कहते हैं कि यह घड़ी है। इसके पीछे अपेक्षा है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। यह घडी स्टील की वनी हुई है, विदेश में बनी हुई है, शीतकाल मे बनी हुई है तथा अमुक साइज में बनी हुई है। मैं कहता हूं यह घड़ी नहीं है। इसके पीछे भी ये ही अपेक्षाएं है। यह घडी सोने की नही है, भारत मे बनी हुई नहीं है, ग्रीष्मकाल मे वनी हुई नही है और अमुक साइज मे बनी हुई नहीं है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की गहराई मे जाए तो भी घडी का अस्तित्व और नास्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। जैसे यह घडी है। जो है, वह नहीं भी है। क्योकि 'नही' के बिना 'है' सिद्ध नहीं हो सकता। निर्विशेषण है। हो ही नही सकता। जो है वह नही के योग से ही है। जैसे घडी है पर कम्बल नही है। रजोहरण नही है, फाउन्टेनपैन नहीं है, पुस्तक नही है आदि नास्तित्व बोधक धर्म इसके साथ जुडे हुए हैं। आप कहेगे घडी दूसरी-दूसरी चीजे नहीं है पर घडी तो है ही। मै कहता हू कि जो घडी नही है। घड़ी है, हाथ-घड़ी है। घडी नही है—दीवार घडी नही है। अब घडी का होना और न होना दोनो आप स्वीकार करेंगे या नही? करना ही होगा। नही करने के लिए आपके पास कोई तर्क तो नही है।

वस्तु की सत्ता और असत्ता की प्रधानता से हम उसके अस्तित्व और नास्तित्व को स्वीकार करते है। जहां सत्ता और असत्ता दोनो को प्रधानता दी जाए, वहा क्रमश· अस्तित्व और नास्तित्त्व का बोध होता है, जैसे यह घडी है और नही भी है। जहा अस्तित्व और नास्तित्व दोनों को एक साथ प्रधानता देकर विश्लेषण करना है, वहा वस्तु अवक्तव्य वन जाती है। घडी है, ऐसा भी नहीं कह सकते और घडी नही है, ऐसा भी नही कह सकते। दोनो धर्मो को एक साथ अभिव्यक्ति देने वाला कोई शब्द नही है, अतः वस्तु अवक्तव्य है। इन चार विकल्पो के योग से तीन विकल्प और वनते हैं। ये सात विकल्प जैन दर्शन मे सप्तभगी के नाम से प्रसिद्ध है। इस सप्तभगी को अच्छी प्रकार समझ लेने से प्रत्येक वस्तु का अनन्त धर्मग्राही अस्तित्व-वोध हो सकता है। अनन्त धर्मो के पीछे रही हुई अनन्त अपेक्षाओ का स्पष्टीकरण होने के वाद सहसा एक-दूसरे के

है—“विवक्षाऽविवक्षातः रांगतिः”। अपेक्षा और अनपेक्षा के आधार पर विरोधी धर्मो का सहअस्तित्व घटित होता है। जिस समय जिस धर्म की अपेक्षा घटित होती है, उसका विवेचन किया जाता है और शेष धर्मो को गौण कर दिया जाता है। जैसे हमारी अनामिका अंगुली छोटी भी है और बडी भी है। मध्यमा की अपेक्षा वह छोटी है और कनिष्ठा की अपेक्षा बडी है। बड़प्पन और छोटापन दोनों विरोधी धर्म हैं, किन्तु इनके सह-अस्तित्व में कोई बाधा नही है।

स्याद्वाद के आधार पर दो विरोधी विचारों वाले व्यक्तियों में सह-अस्तित्व का भाव विकसित हो सकता है। विरोधी विचारों की एकत्र अवस्थिति अहिंसा के विकास से ही संभव है। अहिंसक दृष्टि के विकास मे अनेकान्त दृष्टि का अनन्य योग है। एक अहिंसक व्यक्ति अनेकान्त दृष्टि से ही यह प्रशिक्षण पाता है कि जिस प्रकार उसका अस्तित्व है इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति का अस्तित्व है। विरोध विचारों में है, अस्तित्व मे नहीं। राजनीति मे सह-अस्तित्व, सामंजस्य और समझौतावादी नीति की बात अब आयी है और वह भी औपचारिक रूप से। भगवान् महावीर ने स्याद्वाद का निरूपण उन परिस्थितियों में किया जब कट्टरवादी मनोवृत्ति हर प्रकार से विकास पर थी। जैन दर्शन के प्रति आस्था रखने वालो को इस बात का गौरव होना चाहिए कि उन्हें एक मौलिक निधि उपलब्ध हुई है।

व्यवहार जगत् में स्याद्वाद का विशेष महत्त्व है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्राचीन आचार्यो ने एक उदाहरण दिया है—“ग्वालिन मक्खन पाने के लिए दही मथती है। मथनी चलाने की रस्सी के दोनों छोर उसके हाथो मे होते है। वह कभी एक हाथ आगे बढाती है और कभी दूसरे हाथ को। एक हाथ से रस्सी को अपनी ओर खीचती है और दूसरे हाथ को शिथिल कर देती है। इस प्रकार दोनो अपेक्षाओ को काम मे लेने से वह मक्खन पाने मे सफल होती है। यदि वह दोनो हाथों को वरावर रखने का आग्रह करे तो सफल नही हो सकती।”

स्याद्वाद व्यक्ति को आग्रह से वचाता है। आग्रह अपनी सही वात का भी नही होना चाहिए। हमारा मन्तव्य हमारी दृष्टि से सत्य है। दूसरा व्यक्ति इसमे किसी अपेक्षा से न्यूनता वताता है। वह हमारी समझ मे न

आए तो उसे स्वीकार न करें पर सामने वाले व्यक्ति को एकदम गलत वताने का आग्रह न हो। आग्रही मनोवृत्ति को समझने के लिए एक व्यावहारिक उदाहरण है—

दो व्यक्ति एक रस्सी को पकडकर खीचते हैं। दोनो की खीचातान मे वह रस्सी मध्य भाग से टूट जाती है तो दोनों निश्चित रूप से गिर जाते है। एक व्यक्ति अपनी ओर से उसे शिथिल करता है तो खीचने वाला व्यक्ति गिरता है, दूसरा सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति व्यर्थ के वितण्डावाद मे नही पडता है, उसका मानसिक सन्तुलन विघटित नही होता।

मनुष्य को अपने जीवनकाल मे न जाने कितने उतार-चढाव देखने पडते है। कभी विकास, कभी ह्रास, कभी सम्मान, कभी अपमान—इन स्थितियो मे एक ही दृष्टि से चिन्तन करने वाला व्यक्ति टूट जाता है। उसका मस्तिष्क तनावो से भरा रहता है और वह स्वस्थ जीवन नही जी सकता। सरसता, समरसता और समता की उपलब्धि मे अनेकान्त की दृष्टि का विशेप योग है। उसे आप लोग समझने का प्रयास करे तथा अपने जीवन के प्रत्येक व्यवहार मे प्रयोग करने का अभ्यास करे। जैन परिवारो मे अबाल-वृद्ध स्याद्वाद की महत्ता से अवगत हो। युवा चेतना के जागरण मे इसका समुचित उपयोग हो, इस अपेक्षा के साथ ही मै आप सवको स्याद्वाद के साथ रही हुई अपेक्षाओ को समझने का आह्वान करता हू।

है—"विवक्षाऽविवक्षातः रांगतिः"। अपेक्षा और अनपेक्षा के आधार पर विरोधी धर्मो का सहअस्तित्व घटित होता है। जिस समय जिस धर्म की अपेक्षा घटित होती है, उसका विवेचन किया जाता है और शेष धर्मो को गौण कर दिया जाता है। जैसे हमारी अनामिका अंगुली छोटी भी है और बडी भी है। मध्यमा की अपेक्षा वह छोटी है और कनिष्ठा की अपेक्षा वडी है। बड़प्पन और छोटापन दोनों विरोधी धर्म है, किन्तु इनके सह-अस्तित्व में कोई बाधा नहीं है।

स्याद्वाद के आधार पर दो विरोधी विचारों वाले व्यक्तियों मे सह-अस्तित्व का भाव विकसित हो सकता है। विरोधी विचारो की एकत्र अवस्थिति अहिसा के विकास से ही संभव है। अहिसक दृष्टि के विकास में अनेकान्त दृष्टि का अनन्य योग है। एक अहिसक व्यक्ति अनेकान्त दृष्टि से ही यह प्रशिक्षण पाता है कि जिस प्रकार उसका अस्तित्व है इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति का अस्तित्व है। विरोध विचारों में है, अस्तित्व मे नही। राजनीति मे सह-अस्तित्व, सामंजस्य और समझौतावादी नीति की बात अब आयी है और वह भी औपचारिक रूप से। भगवान् महावीर ने स्याद्वाद का निरूपण उन परिस्थितियो में किया जब कट्टरवादी मनोवृ हर प्रकार से विकास पर थी। जैन दर्शन के प्रति आस्था रखने वालो इस बात का गौरव होना चाहिए कि उन्हें एक मौलिक निधि उपलब्ध है।

व्यवहार जगत् मे स्याद्वाद का विशेष महत्त्व है। इस तथ्य को करते हुए प्राचीन आचार्यो ने एक उदाहरण दिया है—"ग्वालिन पाने के लिए दही मथती है। मथनी चलाने की रस्सी के दोनों छो हाथो में होते हैं। वह कभी एक हाथ आगे बढाती है और कभी द को। एक हाथ से रस्सी को अपनी ओर खींचती है और दूसरे शिथिल कर देती है। इस प्रकार दोनो अपेक्षाओ को काम में ले मक्खन पाने मे सफल होती है। यदि वह दोनों हाथो को वरावर र आग्रह करे तो सफल नही हो सकती।"

स्याद्वाद व्यक्ति को आग्रह से वचाता है। आग्रह अपनी सही का भी नही होना चाहिए। हमारा मन्तव्य हमारी दृष्टि से सत्य है। दू व्यक्ति इसमे किसी अपेक्षा से न्यूनता वताता है। वह हमारी समझ मे

आए तो उसे स्वीकार न करें पर सामने वाले व्यक्ति को एकदम गलत बताने का आग्रह न हो। आग्रही मनोवृत्ति को समझने के लिए एक व्यावहारिक उदाहरण है—

दो व्यक्ति एक रस्सी को पकड़कर खींचते है। दोनों की खीचातान में वह रस्सी मध्य भाग से टूट जाती है तो दोनो निश्चित रूप से गिर जाते है। एक व्यक्ति अपनी ओर से उसे शिथिल करता है तो खीचने वाला व्यक्ति गिरता है, दूसरा सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति व्यर्थ के वितण्डावाद में नही पडता है, उसका मानसिक सन्तुलन विघटित नही होता।

मनुष्य को अपने जीवनकाल मे न जाने कितने उतार-चढाव देखने पडते है। कभी विकास, कभी ह्रास, कभी सम्मान, कभी अपमान—इन स्थितियो मे एक ही दृष्टि से चिन्तन करने वाला व्यक्ति टूट जाता है। उसका मस्तिष्क तनावो से भरा रहता है और वह स्वस्थ जीवन नही जी सकता। सरसता, समरसता और समता की उपलब्धि मे अनेकान्त की दृष्टि का विशेप योग है। उसे आप लोग समझने का प्रयास करे तथा अपने जीवन के प्रत्येक व्यवहार मे प्रयोग करने का अभ्यास करे। जैन परिवारो मे अबाल-वृद्ध स्याद्वाद की महत्ता से अवगत हों। युवा चेतना के जागरण मे इसका समुचित उपयोग हो, इस अपेक्षा के साथ ही मै आप सबको स्याद्वाद के साथ रही हुई अपेक्षाओ को समझने का आह्वान करता हू।

है—"विवक्षाऽविवक्षातः रांगतिः"। अपेक्षा और अनपेक्षा के आधार पर विरोधी धर्मो का सहअस्तित्व घटित होता है। जिस समय जिस धर्म की अपेक्षा घटित होती है, उसका विवेचन किया जाता है और शेष धर्मों को गौण कर दिया जाता है। जैसे हमारी अनामिका अंगुली छोटी भी है और बडी भी है। मध्यमा की अपेक्षा वह छोटी है और कनिष्ठा की अपेक्षा बड़ी है। बड़प्पन और छोटापन दोनों विरोधी धर्म हैं, किन्तु इनके सह-अस्तित्व में कोई बाधा नहीं है।

स्याद्वाद के आधार पर दो विरोधी विचारो वाले व्यक्तियों मे सह-अस्तित्व का भाव विकसित हो सकता है। विरोधी विचारो की एकत्र अवस्थिति अहिसा के विकास से ही सभव है। अहिंसक दृष्टि के विकास में अनेकान्त दृष्टि का अनन्य योग है। एक अहिसक व्यक्ति अनेकान्त दृष्टि से ही यह प्रशिक्षण पाता है कि जिस प्रकार उसका अस्तित्व है इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति का अस्तित्व है। विरोध विचारो मे है, अस्तित्व मे नहीं। राजनीति मे सह-अस्तित्व, सामंजस्य और समझौतावादी नीति की बात अब आयी है और वह भी औपचारिक रूप से। भगवान् महावीर ने स्याद्वाद का निरूपण उन परिस्थितियों में किया जब कट्टरवादी मनोवृत्ति हर प्रकार से विकास पर थी। जैन दर्शन के प्रति आस्था रखने वालो को इस बात का गौरव होना चाहिए कि उन्हें एक मौलिक निधि उपलब्ध हुई है।

व्यवहार जगत् मे स्याद्वाद का विशेष महत्त्व है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्राचीन आचार्यो ने एक उदाहरण दिया है—"ग्वालिन मक्खन पाने के लिए दही मथती है। मथनी चलाने की रस्सी के दोनो छोर उसके हाथो मे होते है। वह कभी एक हाथ आगे बढाती है और कभी दूसरे हाथ को। एक हाथ से रस्सी को अपनी ओर खीचती है और दूसरे हाथ को शिथिल कर देती है। इस प्रकार दोनो अपेक्षाओं को काम मे लेने से वह मक्खन पाने मे सफल होती है। यदि वह दोनों हाथों को वरावर रखने का आग्रह करे तो सफल नही हो सकती।"

स्याद्वाद व्यक्ति को आग्रह से वचाता है। आग्रह अपनी सही वात का भी नही होना चाहिए। हमारा मन्तव्य हमारी दृष्टि से सत्य है। दूसरा व्यक्ति इसमे किसी अपेक्षा से न्यूनता वताता है। वह हमारी समझ मे न

आए तो उसे स्वीकार न करे पर सामने वाले व्यक्ति को एकदम गलत वताने का आग्रह न हो। आग्रही मनोवृत्ति को समझने के लिए एक व्यावहारिक उदाहरण है—

दो व्यक्ति एक रस्सी को पकडकर खींचते है। दोनों की खीचातान में वह रस्सी मध्य भाग से टूट जाती है तो दोनो निश्चित रूप से गिर जाते है। एक व्यक्ति अपनी ओर से उसे शिथिल करता है तो खीचने वाला व्यक्ति गिरता है, दूसरा सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति व्यर्थ के वितण्डावाद मे नही पड़ता है, उसका मानसिक सन्तुलन विघटित नही होता।

मनुष्य को अपने जीवनकाल मे न जाने कितने उतार-चढाव देखने पडते है। कभी विकास, कभी ह्रास, कभी सम्मान, कभी अपमान—इन स्थितियो मे एक ही दृष्टि से चिन्तन करने वाला व्यक्ति टूट जाता है। उसका मस्तिष्क तनावो से भरा रहता है और वह स्वस्थ जीवन नही जी सकता। सरसता, समरसता और समता की उपलब्धि मे अनेकान्त की दृष्टि का विशेप योग है। उसे आप लोग समझने का प्रयास करे तथा अपने जीवन के प्रत्येक व्यवहार मे प्रयोग करने का अभ्यास करे। जैन परिवारो मे अबाल-वृद्ध स्याद्वाद की महत्ता से अवगत हो। युवा चेतना के जागरण मे इसका समुचित उपयोग हो, इस अपेक्षा के साथ ही मै आप सवको स्याद्वाद के साथ रही हुई अपेक्षाओ को समझने का आह्वान करता हू।

जैन धर्म में ईश्वर

आज मैं आप लोगों के सामने ईश्वर के सम्बन्ध में चर्चा करूंगा। ईश्वर शब्द एक शक्ति-सम्पन्न और ऐश्वर्य-सम्पन्न अस्तित्व की सूचना देता है। इसकी शक्ति सम्पन्नता और पारमेश्वर्य किसी भी आस्तिक व्यक्ति के लिए सन्देह का विषय नही है। किन्तु अस्तित्व की अभिव्यक्ति और शक्ति-नियोजन के सम्बन्ध में अनेक दार्शनिको मे मन्तव्य की भिन्नता है।

कुछ दार्शनिको के अनुसार जैन दर्शन ईश्वरवादी नही है। मुझे इस अभिमत का खंडन नही करना है। मै स्वयं कहता हूं कि जैन दर्शन एक दृष्टि से ईश्वर को नही मानता। उन दार्शनिको ने जिस रूप में ईश्वर का स्वरूप-विश्लेषण किया है, वह जैन दर्शन द्वारा सम्मत नही है। ईश्वर इस सृष्टि का कर्त्ता है, वह एक है, पूरे लोक में उसका अस्तित्व व्याप्त है, वह स्वाधीन है, सृष्टि की प्रत्येक प्रवृत्ति का संचालक है, महान् है, अन्य कोई भी आत्मा उस महत्ता का स्पर्श नहीं कर सकती, प्राणियो के कर्म और कर्मभोग मे ईश्वर का हस्तक्षेप है। सृष्टि के निर्माण, पालन और संहार का दायित्व ब्रह्मा, विष्णु, महेश इस त्रिरूपात्मक ईश्वर पर है। ईश्वर अवतार लेकर इस संसार मे पुन· पुन· आता है और जनता का पथ-दर्शन कर धर्म का पुनरुद्धार करता है आदि-आदि ऐसे तथ्य है, जिनके साथ जैन दर्शन की सहमति नही है। इस दृष्टि से जैन दर्शन ईश्वरवादी नही है।

चितन के दूसरे पहलू पर आकर जव रुकता हू तो कह सकता हूं कि जैन दर्शन ईश्वर-कर्तृत्ववादी नही किन्तु ईश्वरवादी अवश्य है। जैन दर्शन मानता है कि ईश्वर का अस्वीकार अपना अस्वीकार है, अपने विकास का अस्वीकार है, अपनी क्षमताओ का अस्वीकार है और अपनी आस्था का अस्वीकार है। जैन दर्शन मे ईश्वर का जो स्वरूप मान्य है, अव हम उस

अपने बन्धन को शिथिल कैसे कर लेते हैं? उसे तोड़ कैसे लेते है? यह एक उलझन भरा प्रश्न ह। इस प्रश्न के समाधान में दशवैकालिक सूत्र बन्धन-मुक्ति की एक प्रक्रिया प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार बन्धन तोडने के लिए सबसे पहली अपेक्षा ज्ञान की है। तत्त्व का सम्यक् बोध होने से ही तदनुरूप आचरण होता है। तत्त्वज्ञान का प्रारम्भ होता है जीव और अजीव की यथार्थ अवगति से। जीव और अजीव का यथार्थ वोध सब जीवों की विविध गतियों का बोध कराता है। गतिवोध के आधार पर पुण्य, पाप बन्ध और मोक्ष—इन चार तत्त्वों का ज्ञान होता है। पुण्य, पाप बन्ध और मोक्ष का ज्ञान होने पर व्यक्ति मनुष्य और देवता सम्बन्धी भोग सामग्री से उदासीन हो जाता है। मन मे विराग भाव जागृत होने पर वाह्य और अभ्यान्तर संयोग (सम्बन्ध) छूट जाते है। संयोग की शृखला टूटते ही व्यक्ति साधना के पथ पर अग्रसर हो जाता है, परिजनो की ममता छोडकर मुनि बन जाता है। मुनि बनने वाला उत्कृष्ट संवर धर्म को जीवनगत कर लेता है, सपाप प्रवृत्तियो का निरोध कर लेता है। नये कर्मो के आगमन का मार्ग अवरुद्ध होने पर भी पूर्व-सचित कर्म अपना आधिपत्य रखते हैं। कर्म-निरोध के बाद अबोधि से अर्जित कर्म-रजों का विधूनन हो जाता है। घाति कर्मो का विधूनन होते ही अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन की उपलब्धि होती है। इसके बाद वह साधक केवली कहलाता है। केवली अपने विशद ज्ञान से लोक और आलोक को हाथ की रेखा की भांति स्पष्ट रूप से देख लेता है। केवलज्ञान की उपलब्धि के बाद मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का सर्वथा निरोध करके वह शैलेशी अवस्था अर्थात् सुमेरू पर्वत की भाति अडोल अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था के वाद अवशेष चार कर्मो का क्षय होता है। क्षीणकर्म आत्मा लोक के अग्रभाग तक पहुंचकर सिद्ध-गति को प्राप्त कर लेते है। सिद्ध-गति प्राप्त करने वाली आत्मा सिद्ध हो जाती है। सिद्ध अवस्था शाश्वत है। वहा वचपन, तारुण्य, वुढ़ापा, वीमारी आदि कुछ नहीं है। सिद्ध आत्मा हर क्षण अभिनव तारुण्य की स्फुरणाओ से भरी रहती है। आलस्य, निद्रा, भूख, प्यास, प्रमाद आदि शरीरगत दुर्वलताओं को टिकने के लिए वहा अवकाश ही नही है। ज्योतिर्मय, ज्ञानमय, आनन्दमय, अनाविल चेतना का पुंज सिद्धत्व की अभिव्यक्ति है। सिद्ध, वुद्ध, मुक्त,

परमात्मा, परमेश्वर, ईश्वर आदि शब्द बन्धनमुक्त आत्मा के पर्यायवाची शब्द है।

जैन दर्शन के अनुसार ईश्वर एक नही है। आज तक अनन्त आत्माए कर्म-मुक्त हो गई हैं, अतः ईश्वर अनन्त है। सब ईश्वर अपना भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते है। उनके वन्धनो की शृंखला टूट जाती है, अत वे पुन संसार में अवतार नहीं लेते। उनका स्वरूप शुद्ध ज्योतिर्मय है। उनका न कोई आकार होता है, न कोई रूप। संसार मे कहा क्या घटित हो रहा है, यह सब उनके ज्ञान का विषय है, किन्तु किसी काम मे उनका हस्तक्षेप नही होता। वे अनन्त शक्ति के स्वामी है, किन्तु किसी प्रवृत्ति में अपनी शक्ति का व्यय नही करते। स्वाभाविक पवित्रता दिन-रात उनकी परिक्रमा करती है। आत्मलीनता उनका स्वभाव है। ऐसे सिद्ध भगवान् जैन दर्शन के मान्य ईश्वर है।

सिद्ध का अर्थ है सिद्धि-प्राप्त। जिस साध्य के लिए वे साधना करते है, वह जिस क्षण उन्हें प्रांप्त होता है, उसी क्षण वे सिद्ध वन जाते है। सिद्धि-प्राप्ति के क्रम में आत्मा शरीर से सर्वथा मुक्त हो जाती है। शरीर-मुक्ति के अनन्तर ही वह लोक के अन्तिम भाग मे पहुंच जाती है। जिस प्रकार अन्तर लेप से रहित अलावुफल पानी के ऊपर तैरता है, इसी प्रकार वन्धन-मुक्त आत्मा की गति ऊर्ध्व है। ऊर्ध्वगामिता में सहायक तत्त्व है धर्मास्तिकाय। धर्मास्तिकाय का अस्तित्व लोकाकाश तक सीमित है, अत. उससे आगे गति मे अवरोध आ जाता है। मुक्त जीव जिस स्थान मे रहते है, उसका नाम सिद्ध शिलातल या ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी है। उस शिलातल का आयाम विष्कम्भ पैतालीस लाख योजन है। वह वीच मे काफी मोटी और सघन है तथा किनारो से वहुत पतली है। वह श्वेत स्वर्णमय धातु से निर्मित है और मुक्ति, सिद्धालय आदि नामो से अपने अस्तित्व की पहचान कराती है।

इस प्रकार जैन दर्शन ईश्वर की सत्ता मे सन्देह नहीं करता वल्कि उसे प्रमाणित करता है। वह हर व्यक्ति को अपनी वृत्तियो का उदात्तीकरण करके ईश्वर वनने का अधिकार देता है। जैन दर्शन का ईश्वर आत्यन्तिक, ऐकान्तिक और अव्यावाध आनन्द से ओत-प्रोत है। वह अपने [illegible] रूप मे है सदा उसी रूप मे रहने वाला है। [illegible]

[illegible]

की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील है। जो ईश्वर बनकर भी जन्म-मरण की शृंखला से मुक्त न हो सके, वैसा ईश्वरत्व हमे काम्य नही है। ईश्वर के बारे में हमारी धारणाएं स्पष्ट हों और हम अपने भीतर सोए हुए ईश्वर को जागृत को संकल्प लें।

मानसिक शान्ति के प्रयोग

'मन' मनुष्य चेतना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। चेतना का जागरण और विकास मानसिक जागरण और विकास पर निर्भर करता है। मन स्वस्थ और प्रशस्त है तो चेतना का ऊर्ध्वारोहण सहज प्राप्त है। मन को साधे विना वह सम्भव नही है इसलिए चैतन्य विकास की दिशा मे पदन्यास करने वाला व्यक्ति सवसे पहले मन को शान्त बनाने की प्रक्रिया जानना चाहता है। आप लोगों के मन मे भी मानसिक शान्ति के प्रयोगो के सम्वन्ध मे गहरी उत्सुकता सम्भव लगती है। आज मैने आपको सम्वोधित करने के लिए यही विषय पसन्द किया है।

मानसिक शान्ति के प्रयोग यह विधेयात्मक प्रक्रिया की सूचना है, पवृत्यात्मक प्रयोग का संकेत है। मै चाहता हूं विधेय से पहले निपेध और प्रवृत्ति से पहले निवृत्ति को समझा जाए। निषेध और निवृत्ति की वात कहकर मैं आपकी क्रियाशीलता मे अवरोधक नही वनूगा, किन्तु क्रिया की ऐसी प्रक्रिया वताऊगा जो आपके मन को परिमार्जित करने मे सक्षम है। इस दृष्टि से मै आपको परामर्श देता हूं कि आप शान्ति के प्रयोगो से पहले अशान्ति के कारणो को समझें। जव तक अशान्ति के कारणो की रुकावट नही होगी, शान्ति को प्रवेश नही मिल सकेगा। मकान को स्वच्छ रखने के लिए यह आवश्यक है कि अस्वच्छता के मूल कारणो को समझकर उन्हे मिटाया जाए। आधी के साथ आने वाली धूल के लिए आपके मकान के द्वार और खिडकियां खुली है, उधर आप झाड-पोंछकर [illegible] वस्तु को स्वच्छ कर रहे है, क्या इस क्रम से स्वच्छता सम्भव है? मकान का कूड-करकट इकट्ठा कर वाहर फेकने से पहले उसके द्वार और खिडकियों को वन्द करना वहुत जरूरी है। मनुष्य के मन की वे खिडकिया जो अशान्ति को प्रवेश दे रही है, उन्हे वन्द कर दे, स्वच्छ मन

पर शान्ति का सही प्रतिविम्ब अंकित हो जाएगा।

शान्ति कोई बाह्य पदार्थ नही है, जिसे पाने के लिए प्रयत्न किया जाए। मेरे अनुभव के आधार पर शान्ति आत्म-धर्म है, स्वभाव है, स्वरूप है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य—यह अनन्तता आत्मा की अपनी स्थिति है। इस स्थिति में अशान्ति नाम का तत्त्व अवकाश ही नही पा सकता। किन्तु जहां वह अनन्तता आवृत हो जाती है, विजातीय तत्त्व अपना आधिपत्य जमा लेते हैं। आज शान्ति के लिए दौड़-धूप और शोर-शराबा हो रहा है, पर शान्ति आपको किसी बाह्य पदार्थ से कभी नहीं मिलेगी। शान्ति को पाना नहीं, प्रकट करना है, उस पर जो आवरण आ गए हैं, उन्हें तोडना है। अशान्ति समाप्त होगी, शान्ति स्वयं आपके जीवन में रस भरने के लिए प्रस्तुत रहेगी। तो अव मैं शान्ति के चौराहे पर अटकी हुई आपकी दृष्टि को अशान्ति के कारणो की खोज में मोडना चाहता हूं। इन कारणों की खोज और सही समझ में आप लोग मेरे सहयोगी बनेंगे तो मानसिक शान्ति के प्रयोगों की बात सहज सुबोध हो जाएगी।

मानसिक अशान्ति का एक प्रमुख कारण है—अतृप्त आकांक्षाए। सामान्यतः हर व्यक्ति के मन मे आकांक्षा या अभीप्सा होती है। आकांक्षा की पूर्ति अतिरिक्त मनस्तोष देती है किन्तु कुछ व्यक्ति इतनी आकांक्षाएं कर लेते है, इतनी कल्पनाओ का जाल बुन लेते है कि उनकी पूर्ति नहीं हो सकती। किसी आकांक्षा की पूर्ति होती भी है तो उसके साथ अन्य अनेक नयी आकाक्षाओं का जन्म हो जाता है। आकांक्षा अपने आप मे गलत नहीं है, यदि उनके साथ प्रौढ़ अनुभूति का योग हो। जिस आकांक्षा मे कैशोर्य की चपलता रहती है वहां उसकी पूर्ति में बाधाएं खडी हो जाती है। अति कल्पनावादी चिन्तन हवाई उड़ान भर सकता है, पर यथार्थ का ठोस धरातल उसे उपलब्ध नहीं होता। यह अनुपलव्धि हर क्षण व्यक्ति को कचोटती रहती है और वह प्राप्त सुख-सुविधाओं के उपभोग से भी वंचित हो जाता है।

प्राप्त साधन-सामग्री से असन्तोष अशान्ति को स्पप्ट आमंत्रण है। मैं ऐसे कई व्यक्तियो को जानता हूं जिनके पास आवश्यकता-पूर्ति के पर्याप्त साधन है। उनके मन में कोई वडी आकांक्षा भी नहीं होती। मानसिक

से स्वस्थ जीवन जीने का अभ्यास। उच्छृंखल मनोभाव संयम की आवश्यकता का बोध नहीं कर पाते। पर ऐसा हुए बिना शान्ति की बात व्यवहार्य नहीं बन सकती।

निराशा और कुण्ठा अशान्ति के मानसिक हेतु है। निराश व्यक्ति अपने जीवन की प्रसन्नता खो देता है। कुंठाओं से चिन्तन की शक्ति में अवरोध आता है। निराशा और कुंठा से आक्रांत व्यक्ति मनोरोगो को प्रश्रय देते है। अपने पुरुषार्थ के प्रति उन्हें भरोसा नही होता और अपने परिवेश के प्रति विश्वास का भाव नहीं जमता। अकर्मण्यता और सन्देहात्मक मनोभाव व्यक्ति मे हीन भावना पैदा कर देते हैं निराशा और कुंठा की कारा से मुक्त व्यक्ति मानसिक स्वास्थ्य की दिशा में प्रगति कर सकता है। निराशा का एक कारण है अपने से उत्कृष्ट स्थिति वाले व्यक्तियो को आदर्श मानना। पर्याप्त साधन सामग्री होने पर भी जो व्यक्ति अपने से ऊंचे स्तर के लोगों को देखता है, वह सोचता है—मेरे पास कुछ भी नही है। एक कवि ने इस स्थिति का कितना यथार्थ चित्रण किया है:

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नो गरीयसी।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति।।

—अपने से निम्न स्थिति वाले व्यक्तियो को देखने वाला व्यक्ति अपनी महिमा वढ़ा लेता है। जो व्यक्ति ऊपर-ऊपर देखते है वे स्वयं को दरिद्र की भाति अनुभव करने लगते है। खान-पान का अविवेक भी अस्वास्थ्य का मूल कारण है। शारीरिक अस्वास्थ्य से मन प्रभावित होता है इसलिए खान-पान का मन पर वहुत असर होता है। भोजन कैसा हो? कव हो? कितनी वार हो? कितनी मात्रा में हो? आदि वातो का ज्ञान होने से खान-पान में विवेक रखा जा सकता है।

मन का सम्वन्ध वहुत चीजो से है पर मानसिक शान्ति के लिए विशेप रूप से ध्यान देने योग्य वाते हैं—मन-शुद्धि, श्वास-शुद्धि और इन्द्रिय-शुद्धि। इससे शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार का स्वास्थ्य उपलब्ध हो सकता है। शक्ति-प्राप्ति की पहली शर्त यह है कि मनुष्य के मन, मस्तिष्क, स्नायु और शरीर मे किसी प्रकार का तनाव न रहे।

तनाव-विसर्जन के लिए भय, घृणा, उत्तेजना, छलना, अभिमान, क्रूरता, सन्देह, चिन्ता, लोभ आदि रागात्मक और द्वेषात्मक वृत्तियो को परिमार्जित करने की अपेक्षा है। संकल्प-शक्ति का विकास, सहिष्णुता और परिस्थिति का अस्वीकार—ये मानसिक शान्ति प्राप्त करने के अमोघ साधन है, यदि इनके साथ भावना की तीव्रता का पूरा योग हो। विस्तार से चर्चा करे तो ऐसे कई प्रयोग है, जिनसे मानसिक स्वास्थ्य फलित होता है। पर मै जानता हूं कि अधिक प्रयोग करने के लिए घनीभूत आस्था और परिणाम के प्रति अनौत्सुक्य—इन दो वातो का होना जरूरी है। युवा पीढी अव तक इस रूप में स्वय को प्रस्तुत नही कर सकी है। इस दृष्टि से मै उसे प्रयोग के लिए एक ही सूत्र देता हूं। वह सूत्र है—वर्तमान मे जीना।

अतीत की स्मृतिया और भविष्य की कल्पनाएं मनुष्य को वर्तमान जीवन का सही आनन्द नही लेने देती। वर्तमान मे जीने के लिए आवश्यक है अनुकूलता और प्रतिकूलता, सुख और दु ख, निन्दा और प्रशंसा, लाभ और अलाभ। इन द्वन्द्वो मे सम रहने का अभ्यास। एक छोटी-सी कहानी के द्वारा मै इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करना चाहता हू।

शान्ति के लिए आकुल एक व्यक्ति सन्यासी के पास गया और बोला—"मै वहुत सत्रस्त हू, शान्ति का मार्ग वतलाइए।" सन्यासी ने उस व्यक्ति को एक स्थानीय व्यापारी के पास कुछ दिन रहने के लिए भेजा। व्यक्ति जिज्ञासु था, व्यापारी के पास जाकर सारी स्थिति वता दी और वही रहने लगा। उसने सोचा—"व्यापारी दिन भर फाइलो मे व्यस्त रहता है, चारो ओर झझट है, इसके पास शान्ति कहा से आएगी? यह स्वय माया के चक्कर मे फसा हुआ है, मुझे क्या शान्ति देगा? फिर भी सन्यासी ने कहा है इसलिए रहना पडेगा।"

एक दिन व्यापारी अनेक व्यक्तियो से घिरा वैठा था। सहसा मुनीम आया। उसके चेहरे पर हवाइया उड़ रही थी। व्यथाभरे शब्दो मे वह बोला—"जहाज मे दो लाख का माल है, समुद्र मे तूफान आ गया है। जहाज पहुचने का समय भी टल गया है। अब क्या करें?" वहा बैठे सब लोग स्तब्ध रह गए। वे व्यापारी के प्रति संवेदना प्रकट करने लगे। व्यापारी के मन और चेहरे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने शान्त स्वर मे कहा—"मुनीमजी! चिन्ता की क्या बात है, जो होना था वह हो गया। [illegible]

का प्रवाह कहीं रुकेगा नहीं, इसके बहाव में हम क्यों बहें?" व्यापारी के इन शब्दों का सब पर गहरा असर हुआ।

तीन दिन बाद मुनीम आया। उस समय उसके चेहरे पर रौनक थी। उसका मन बासों उछल रहा था। अपने मालिक की ओर अभिमुख होकर वह बोला—"सेठजी। शुभसूचना लेकर आया हूं। जहाज तूफान से निकलकर किनारे लग गया है। सारा माल सुरक्षित है। माल उतारते ही चार लाख मे बिक गया। दो लाख का प्रॉफिट है।" वहां बैठे लोगो ने सोचा—"इस बार सेठजी मुनीमजी को बधाई देंगे।" लेकिन एकदम उल्टा हुआ। सेठ मध्यस्थ भाव से बोला—"मुनीमजी! यह कोई अनहोनी घटना नहीं है। अर्थ को लेकर हमारे मन में अहं और प्रसन्नता का भाव क्यो हो? यह हमारे जीवन का साधन है, साध्य नही। जो कुछ होता है, हम द्रष्टा भाव से देखते रहे, पर अपने मन को इसके साथ न जोडे।"

संन्यासी ने जिस व्यक्ति को वहां भेजा था, वह विस्मय मे खो गया। उसे शान्ति का सही मार्ग उपलब्ध हो गया। उसकी आशका निर्मूल हो गई और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण स्पष्ट हो गया। आप लोगो के मन में यदि शान्ति प्राप्त करने की गहरी तडप है, शान्ति के लिए प्रयोग करने की उत्सुकता है तो मैंने आपका थोड़ा-सा मार्गदर्शन किया है। इस मार्ग पर आप चले। मै स्वयं भी चल रहा हूं और आपको प्रेरणा दे रहा हू। इससे अशान्ति के कारणों का उन्मूलन होगा और आपके भीतर दवी हुई शान्ति अभिव्यक्त होगी इसी विश्वास के साथ मै अपना वक्तव्य सम्पन्न करता हू।

धार्मिक परम्पराएं : उपयोगितावादी आशय

संसार मे जितने तत्त्व, पदार्थ, विचार या व्यक्ति हैं, वे दो प्रकार के है—अस्तित्ववादी और उपयोगितावादी। अस्तित्व का जहां तक पश्न है, सवका अपना-अपना महत्त्व है। कोई तत्त्व बुद्धि का विपय वने, न वने, किसी पदार्थ का उपयोग हो, न हो कोई विचार समझ मे आए, न आए, कोई व्यक्ति कुछ करे, न करे, उसकी सत्ता को चुनौती नही दी जा सकती। अस्तित्ववाद की दृष्टि से किसी का होना ही उसकी अर्थवत्ता है।

जेन दृष्टि के अनुसार द्रव्य को परिभापित करते हुए कहा गया है—'गुण पर्यायाश्रयो द्रव्यम्'—द्रव्य वह होता है, जो गुणों एव पर्यायो का आधार है। गुण के दो प्रकार है—सामान्य गुण और विशेप गुण। विशेप गुण प्रत्येक द्रव्य का अपना स्वतत्र होता है। स्वतंत्र एवं विशिप्ट होने के कारण ही उसे विशेप गुण का स्थान प्राप्त हुआ है। धार्मास्तिकाय एक द्रव्य है। उसका विशिप्ट गुण है—गतिशील जीव और पुद्गल की गति मे उदासीन भाव से सहायता करना। यह गुण विशेष है, इसलिए धर्मास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य मे इसकी सत्ता नही है। इस प्रकार जितने विशिष्ट गुण है, वे सब अपने आधारभूत द्रव्य की स्वतत्र पहचान वने हुए है।

सामान्य गुण वह होता है, जो सब द्रव्यो मे समान रूप से विद्यमान रहता है, वह जीव मे जितना होता है, उतना ही अजीव मे भी होता है। इसको छह बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्व और अगुरुलघुत्व।

अस्तित्व का अर्थ है—उत्पाद, विनाश एव स्थिरता की समन्विति। जिस वस्तु मे कुछ नया उत्पन्न होता है, पुराना विनष्ट होता है तथा मूल

तत्त्व स्थिर रहता है, वह अस्तित्ववान् कहलाता है। दूध का दही जमाने पर दूध तत्त्व का विनाश होता है, दही तत्त्व उत्पन्न होता है, किन्तु गोरस स्थिर रहता है। यह उन सभी पदार्थो की कहानी है, जो अस्तित्व-सम्पन्न है।

वस्तु के अस्तित्व से जुड़ा हुआ दूसरा सवाल है, उसकी उपयोगिता का। किसी भी पदार्थ अथवा विचारधारा की उपयोगिता द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पर निर्भर करती है। इसलिए अस्तित्व के साथ उपयोगिता का कोई अविनाभावी संबंध नही है। परिवर्तन के सिद्धान्त की यही सार्थकता है कि वह समय, परिस्थिति आदि के अनुसार बदलाव की बात कहता है। बदलाव भी उपयोगिता का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। यदि किसी व्यक्ति और उसके विचार में बदलाव नहीं होता है तो कालांतर मे उसकी उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न टंग जाता है।

परंपरा तोड़ी नहीं जाती

परंपरा एक ऐसा तत्त्व है, जो बनाने से नही बनता। कोई विचार या सिद्धान्त, जिसका एक जनसमूह, अनुकरण करता है, परंपरा के रूप मे ढल जाता है। वैसे हर समाज, राज्य एवं धर्म की कुछ अपनी परंपराएं होती हैं। कुछ व्यक्ति भी ऐसे होते हैं, जो परपरा के उत्स बन जाते हैं। प्रश्न यह है कि किस परपरा को आगे बढ़ाना चाहिए और किसको उपेक्षित कर देना चाहिए ?

कुछ अति प्रगतिशील विचारक परपरा के नाम से ही चिढते हैं। उनकी दृष्टि में परंपरा एक ऐसा लिबास है, जिसे जब चाहा ओढ लिया और जब चाहा उतार दिया। कुछ ऐसे वर्ग भी जन्म ले चुके हैं, जो सब प्रकार की परम्पराओ एवं वर्जनाओं को तोड़कर स्वच्छन्द जीवन जीने में विश्वास करते है। यदि ऐसे लोग अपने संस्कारों, विचारो एव जीवनशैली को समकालीन पीढ़ी या भावी पीढ़ी में संक्रान्त करना चाहते हैं तो फिर चाहे-अनचाहे उनकी भी एक परम्परा वन जाती है। एक अवधि के वाद उस परम्परा मे ही ऐसी विचारधारा का उदय हो सकता है, जो स्वच्छन्द जीवनशैली के विरोध में खड़ी होकर शाश्वत और पारंपरिक मूल्यो की तलाश में अपने जीवन की दिशा को मोड़ दे।

परम्परा कांच की तरह तोड़ी नहीं जाती, लोहे की तरह गलाई जाती है—पंडित जवाहरलाल नेहरू का यह मतव्य वहुत सार्थक प्रतीत होता है। जिस काच को तोडकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते है, उससे उसकी उपयोगिता तो समाप्त हो जाती है, किसी के पांव में लगकर वह उसे रक्तरंजित भी वना देता है। इसके विपरीत लोहे को गलाने के वाद उसे किसी भी आकार मे ढाला जा सकता है। इस दृष्टि से किसी भी परपरा को आगे वढ़ाने या तोड़ने के पूर्व उसके सम्वन्ध में गहरी अनुप्रेक्षा की जरूरत है।

परंपरा रुढ़ि का रूप न ले

परम्परा समाज के लिए जितनी उपयोगी है, उतनी ही विवादास्पद भी है। उसी परम्परा को जीवित रहने का अधिकार है, जो व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की धारा से जुडकर उसे गतिशील वनाने मे निमित्त वनती है। जिस परम्परा की अर्थवत्ता समाप्त हो जाती है, जो रूढि का रूप ले लेती है, जिसके कारण व्यक्ति या समाज पर आर्थिक दवाव पडता है, और जो वुद्धि एवं आस्था के द्वारा भी समझ का विपय नही वन पाती, उस परम्परा का मूल्य एक लाश से अधिक नही हो सकता। उसे एक दिन अपना रास्ता वदलना होगा। वैसी मुर्दा लाश को ढोने से कोई लाभ भी नहीं है। उद्देश्यहीन परम्परा को भेड-चाल से उपमित किया जाता है। भेडो की समझ इतनी विकसित नही होती, इसलिए वे एक-दूसरे का अनुसरण करने लगती है। मनुष्य एक समझ-संपन्न प्राणी है। उसकी चेतना जागृत है। उसके विवेक दर्पण मे हेय और उपादेय के प्रतिविम्व रहते है। ऐसी स्थिति मे वह नदी के प्रवाह मे तिनके की भाति किसी परम्परा मे वहता रहे या अन्धानुकरण की प्रवृत्ति को पोपण देता रहे, इसका कोई औचित्य समझ मे नही आता। गलत परम्परा, फिर चाहे वह कितनी ही प्राचीन क्यो न हो, अपनी उपयोगिता को प्रमाणित नही कर सकती।

धार्मिक परम्पराएं

तत्त्व स्थिर रहता है, वह अस्तित्ववान् कहलाता है। दूध का दही जमाने पर दूध तत्त्व का विनाश होता है, दही तत्त्व उत्पन्न होता है, किन्तु गोरस स्थिर रहता है। यह उन सभी पदार्थो की कहानी है, जो अस्तित्व-सम्पन्न है।

वस्तु के अस्तित्व से जुड़ा हुआ दूसरा सवाल है, उसकी उपयोगिता का। किसी भी पदार्थ अथवा विचारधारा की उपयोगिता द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पर निर्भर करती है। इसलिए अस्तित्व के साथ उपयोगिता का कोई अविनाभावी संबंध नहीं है। परिवर्तन के सिद्धान्त की यही सार्थकता है कि वह समय, परिस्थिति आदि के अनुसार बदलाव की बात कहता है। बदलाव भी उपयोगिता का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। यदि किसी व्यक्ति और उसके विचार मे बदलाव नही होता है तो कालातर मे उसकी उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न टंग जाता है।

परंपरा तोड़ी नहीं जाती

परपरा एक ऐसा तत्त्व है, जो बनाने से नही बनता। कोई विचार या सिद्धान्त, जिसका एक जनसमूह, अनुकरण करता है, परंपरा के रूप मे ढल जाता है। वैसे हर समाज, राज्य एवं धर्म की कुछ अपनी परपराए होती हैं। कुछ व्यक्ति भी ऐसे होते हैं, जो परंपरा के उत्स बन जाते हैं। प्रश्न यह है कि किस परंपरा को आगे बढ़ाना चाहिए और किसको उपेक्षित कर देना चाहिए ?

कुछ अति प्रगतिशील विचारक परपरा के नाम से ही चिढ़ते है। उनकी दृष्टि मे परपरा एक ऐसा लिबास है, जिसे जब चाहा ओढ लिया और जब चाहा उतार दिया। कुछ ऐसे वर्ग भी जन्म ले चुके है, जो सब प्रकार की परम्पराओ एवं वर्जनाओं को तोडकर स्वच्छन्द जीवन जीने मे विश्वास करते है। यदि ऐसे लोग अपने सस्कारो, विचारो एव जीवनशैली को समकालीन पीढ़ी या भावी पीढी में संक्रान्त करना चाहते है तो फिर चाहे-अनचाहे उनकी भी एक परम्परा वन जाती है। एक अवधि के वाद उस परम्परा मे ही ऐसी विचारधारा का उदय हो सकता है, जो स्वच्छन्द जीवनशैली के विरोध मे खड़ी होकर शाश्वत और पारंपरिक मूल्यो की तलाश में अपने जीवन की दिशा को मोड़ दे।

परम्परा कांच की तरह तोडी नहीं जाती, लोहे की तरह गलाई जाती है—पंडित जवाहरलाल नेहरू का यह मतव्य बहुत सार्थक प्रतीत होता है। जिस कांच को तोड़कर उसके टुकडे-टुकडे कर दिए जाते है, उससे उसकी उपयोगिता तो समाप्त हो जाती है, किसी के पांव मे लगकर वह उसे रक्तरंजित भी बना देता है। इसके विपरीत लोहे को गलाने के बाद उसे किसी भी आकार में ढाला जा सकता है। इस दृष्टि से किसी भी परंपरा को आगे बढ़ाने या तोड़ने के पूर्व उसके सम्बन्ध मे गहरी अनुप्रेक्षा की जरूरत है।

परंपरा रूढ़ि का रूप न ले

परम्परा समाज के लिए जितनी उपयोगी है, उतनी ही विवादास्पद भी है। उसी परम्परा को जीवित रहने का अधिकार है, जो व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की धारा से जुडकर उसे गतिशील बनाने मे निमित्त बनती है। जिस परम्परा की अर्थवत्ता समाप्त हो जाती है, जो रूढ़ि का रूप ले लेती है, जिसके कारण व्यक्ति या समाज पर आर्थिक दबाव पड़ता है, और जो बुद्धि एव आस्था के द्वारा भी समझ का विषय नही बन पाती, उस परम्परा का मूल्य एक लाश से अधिक नहीं हो सकता। उसे एक दिन अपना रास्ता वदलना होगा। वैसी मुर्दा लाश को ढोने से कोई लाभ भी नही है। उद्देश्यहीन परम्परा को भेड-चाल से उपमित किया जाता है। भेडो की समझ इतनी विकसित नही होती, इसलिए वे एक-दूसरे का अनुसरण करने लगती हैं। मनुष्य एक समझ-संपन्न प्राणी है। उसकी चेतना जागृत है। उसके विवेक दर्पण में हेय और उपादेय के प्रतिबिम्ब रहते है। ऐसी स्थिति मे वह नदी के प्रवाह मे तिनके की भाति किसी परम्परा मे वहता रहे या अन्धानुकरण की प्रवृत्ति को पोषण देता रहे, इसका कोई औचित्य समझ मे नही आता। गलत परम्परा, फिर चाहे वह कितनी ही प्राचीन क्यो न हो, अपनी उपयोगिता को प्रमाणित नही कर सकती।

धार्मिक परम्पराएं

प्रश्न है—क्या धार्मिक परम्परा उपयोगी है? यह प्रश्न अपने आप मे चौंकाने वाला है। विचारणीय विन्दु यह है कि ऐसा प्रश्न उठा ही क्यो?

यदि अन्य सब परम्पराएं उपयोगी हैं तो धार्मिक परम्परा का भी उपयोग है। हजारों-हजारों वर्षो से विचारों की जो शृंखला चलती है, उसका उपयोग न हो तो वह एक झटके से टूट सकती है।

धार्मिक परम्पराओं का संबंध उन महापुरुषों से है, जो देश और काल की सीमा से मुक्त हैं। वे जिस पथ पर चलते है, लोग उनका अनुगमन करते हैं। वे जो कुछ करते हैं, जनता उसका अनुकरण करती है। और वे जो कुछ कहते हैं, उसके आधार पर एक नई जीवनशैली विकसित हो जाती है। महापुरुष चले जाते हैं, पर उनका किया हुआ और कहां हुआ रह जाता है। आगे की पीढ़ी के लिए वही से एक सशक्त परम्परा की नींव लग जाती है।

इस युग के प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभ इस धरती पर आए। उन्होने युग के प्रवाह को मोड़ा और वे युग-प्रवर्तक बन गये। जैन अवधारणा के अनुसार आज लौकिक और लोकोत्तर—जितनी पद्धतियां प्रचलित है, उन सबके जन्मदाता भगवान् ऋषभ हैं। सामाजिक, पारिवारिक, वैवाहिक, राजकीय, व्यावसायिक आदि जितनी परम्पराएं हमारे सामने है, भगवान् ऋषभ उनके प्रवर्तक रहे हैं। अन्ततोगत्वा उन्होने धार्मिक परम्परा का सूत्रपात किया और मनुष्य को लोकोत्तर पथ का पथिक बना दिया।

भगवान् ऋषभ के बाद समय-समय पर युग के प्रवाह ने अनेक मोड़ लिये। उनके वाद तेईस तीर्थकर हुए। प्रत्येक तीर्थकर की अपनी स्वतंत्र परम्परा थी। फिर भी भगवान् ऋषभ ने जो लकीरें खींची, उनका सर्वथा लोप नहीं हो सका। आज भगवान् महावीर की परम्परा चल रही है। लाखों-लाखों लोग इस परम्परा से जुड़कर कृतार्थता का अनुभव कर रहे हैं।

जैन तीर्थकारो की भांति अन्य महापुरुषो की भी परम्परा चली। भगवान् राम, कृष्ण, वुद्ध, ईसा, मोहम्मद, स्वामी रामकृष्ण परमहस, आचार्य भिक्षु, विवेकानन्द आदि जितने विशिष्ट व्यक्तित्व हुए है, उन सवकी खींची हुई लकीरों को जनता ने मान दिया है। आज इन महापुरुषों के साथ हमारा साक्षात सपर्क नही है, फिर भी जन-जीवन की आस्था

का धागा इनके साथ जुड़ा हुआ है। इसलिए इन सबकी परम्परा जीवित है। परम्परा के बिना ऊंचे-से-ऊंचा सिद्धान्त काल के प्रवाह में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से परम्परा का भी अपना मूल्य है।

बीसवीं सदी के महापुरुषों में एक नाम है महात्मा गाधी का। कितने अच्छे और ऊंचे सिद्धान्त थे उनके। उन्होंने अपने जीवन में बहुत कुछ किया, पर अपने पीछे किसी सक्षम उत्तराधिकारी को नही छोड़ा, फलतः भारत में गाधीवाद विस्मृत जैसा हो रहा है। यदि उनका कोई उत्तराधिकारी होता तो संसार के सामने गांधीवाद का एक प्रतीक तो रहता। गाधीवादी आदर्शों की निमर्म हत्या को देखकर कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि परम्परा का कितना औचित्य है।

विकृति का शोधन जरूरी

जैन तीर्थकरो ने धर्म के मंच से जिन परम्पराओं का सूत्रपात किया, उनका आज भी उतना ही उपयोग है। उन्होंने जिस अकिचनता का जीवन जीया, वह आज भी हमारे लिए आदर्श है। उनके द्वारा निरूपित ब्रह्मचर्य की साधना का क्रम एक शाश्वत सत्य है। उन्होने जैन मुनियो को पदयात्रा का व्रत दिया, यान-वाहन-बहुल युग मे भी इसका अपना महत्त्व है। इसी प्रकार भारतीय ऋषि-परम्परा मे संन्यास का क्रम है, वह भौतिकवादी युग मे भी उतना ही आवश्यक प्रतीत होता है, जितना हजारों-हजारो वर्ष पहले था।

विचारणीय बिन्दु एक ही है कि किसी भी परम्परा मे विकृति का प्रवेश नही होना चाहिए। विकृत परम्परा युग के रथ को सही दिशा मे नही मोड सकती। इसलिए प्रारम्भ से ही उसकी शुद्धि पर ध्यान देना जरूरी है। अन्य परम्पराओं की तो वात ही क्या, धर्म की उजली परम्परा भी विकृतियों के कारण विवादास्पद बन जाती है और एक दिन टूट भी जाती है। धर्म के नाम पर स्वार्थसिद्धि का उपक्रम, धर्म की आड मे आडम्वर और प्रदर्शन की अन्धी दौड़, धर्म के सहारे मानवीय मूल्यों का उपहास, छूआछूत जैसी धारणाओं का जन्म, धर्म के लिए हिंसा के मैदान मे कूद पडना आदि ऐसी विकृतियां है, जिनके कारण धार्मिक परम्पराओ

की अस्मिता हिल उठी है। इन विकृतियो के शोधन की अपेक्षा है, पर विकृति के कारण उस परम्परा को समाप्त कर देने की बात कभी नहीं सोचनी चाहिए। नाक पर व्रण हो तो व्रण का उपचार जरूरी है, पर व्रण के कारण नाक को काटना बुद्धिमत्ता नहीं है। इसी प्रकार जिन परम्पराओ मे दोष आ गए हों, उनके विशुद्धीकरण की ओर ध्यान देना जरूरी है, पर परम्परा को समाप्त करने का दुःसाहसपूर्ण कदम कभी नही उठाना चाहिए। किसी भी परम्परा के मौलिक रूप को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसके सामयिक मूल्यों में काट-छांट करते हुए भी मूल तत्त्व को ओझल होने से बचाया जाए, परम्परा के स्थायित्व का एक घटक परिवर्तन भी है। इसका उपयोग परम्परा में समागत विकृति को समाप्त करने के लिए और मूल परम्परा को आगे बढाने के लिए ही होना चाहिए।

स्वस्थ धार्मिक परम्पराएं सुरक्षित रहें

धार्मिक परम्परा किसी भी राष्ट्र की निधि होती है। धर्म की स्वस्थ परम्परा के कारण ही अमेरिका और रूस जैसी महाशक्तियां भारतीय सस्कृति का आदर करती है। यदि इस परम्परा को नष्ट कर दिया गया तो वह देश का दुर्भाग्य होगा। परम्परा को समाप्त करने की बात वे लोग सोच सकते है, जिन्हे अपने राष्ट्र की संस्कृति एव इतिहास से कोई लगाव नहीं होता। हमारे शास्त्र हमारी परम्परा और सस्कृति के संरक्षक है। उनमे प्रतिपादित अनेक तथ्य आज विज्ञान की कसौटी पर खरे उतर रहे है। जैन आगमो मे वर्णित फुसमाण गति तथा अफुसमाण गति की वात किसी भी तरह समझ मे नही आ रही थी, पर जब विज्ञान ने स्पेश और टाइम के संकोच-विस्तार का सिद्धान्त प्रमाणित कर दिया तो अफुसमाण गति अर्थात् आकाश का स्पर्श किए विना होने वाली गति की वात सहज समझ मे आ गई।

धार्मिक परम्पराओ में समागत रूढता, विकार, अन्धविश्वास आदि को जडमूल से उखाड़ने के लिए संकल्पित होने पर भी इस वात पर वल देना चाहता हूं कि आनन-फानन मे किसी भी परम्परा को समाप्त करने

की बात अविवेकपूर्ण चिन्तन है। हमें अपनी परम्पराओ के गौरव को अक्षुण्ण रखना है, देश के सांस्कृतिक एवं धार्मिक मूल्यों को पुष्ट रखना है और रसातल की ओर जाती हुई मानवता को सहारा देकर उठाना है। यह तभी संभव है, जब देश की धार्मिक परम्पराए पुष्ट हों, जीवंत हों और तेजस्वी हों।

कंप्यूटर युग के साधु

कंप्यूटर युग में साधु सस्था का स्वरूप और उपयोग क्या होगा—यह आज का एक ज्वलंत सवाल है। इस सवाल के आइने में देखने वालों का भी अपना-अपना नजरिया है। कुछ लोग इक्कीसवी सदी में साधु सस्था के अस्तित्व को ही नकारते हैं। कुछ लोगों का अभिमत है कि भारतीय लोक-जीवन में साधुओं की सत्ता को निःशेष करना संभव नही है, पर उनका रूप इतना बदला हुआ होगा कि बीसवी और इक्कीसवीं सदी के साधु भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर के साधुओं की भाति अपनी अलग-अलग पहचान छोडते जाएगे।

साधु जीवन के दो मानक हैं—अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरग मानको का सम्वन्ध साधुता से है। साधुता एक शाश्वत सत्य है, इसलिए अपरिवर्तनीय है। इसमें बदलाव की न कोई सभावना है और न ही इसका औचित्य है। साधुता का सम्बन्ध है पाच महाव्रतो से। अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाच महाव्रत भगवान् महावीर के द्वारा निरूपित हैं। उन्होने ढाई हजार वर्ष पहले पाच महाव्रत और रात्रि-भोजन-विरति रूप छठे व्रत की प्रस्थापना कर साधुत्व के नैतिक मूल्यों से जनता को परिचित किया। भगवान् महावीर अर्हत थे, सर्वज्ञ थे, त्रिकालदर्शी थे। उन्होंने जिन शाश्वत मूल्यो की प्ररूपणा की, वे कभी टूटने वाले नही है, विखरने वाले नही है। सदी चाहे इक्कीसवीं हो या पच्चीसवी, युग चाहे कंप्यूटर का रहे या रोवोट का; साधु सस्था का भविष्य उसकी मौलिक आस्थाओं पर ही निर्भर है। इन आस्थाओं में सन्देह की फास प्रवेश पा जाए और भगवान् महावीर द्वारा खींची हुई लकीरो को मिटा दिया जाए तो साधुता स्वयं ही विवादास्पद वन जाएगी।

साधु जीवन के बहिरंग मानको का जहां तक प्रश्न है, वे बनते-बदलते रहे हैं। साम्प्रदायिक आस्थओं के आधार पर एक ही समय के साधुओ की चर्या में अनेकरूपता देखी जा सकती है। कुछ साधु सफेद वस्त्र पहनते है और कुछ साधु ऐसे भी है जो किसी प्रकार का वस्त्र न पहनकर दिगम्बर रहते हैं। कुछ साधु एक ही समय भोजन करते हैं तो ऐसे भी साधु हैं जिनके लिए भोजन के समय की प्रतिबद्धता नही है। कुछ साधु कपडे धोते हैं, कुछ नही भी धोते है। कुछ सम्प्रदायो में साध्वी को खडी होकर प्रवचन करने का अधिकार नहीं है तो कुछ सम्प्रदायो मे शिक्षा, प्रवचन, यात्रा आदि के सन्दर्भ में साधु-साध्वियों के बीच कोई भेद-रेखा नही है।

वहिरंग मानकों का भी मूल्य है, पर इनकी मूल्यवत्ता सामयिक है। द्रव्य, क्षेत्र, समय और परिस्थिति के अनुरूप अतीत मे ये मानक वदलते रहे हैं, वर्तमान में बदल रहे है और भविष्य में नही बदलेगे, ऐसी कोई नियामकता नहीं है। नियामकता एक ही है कि परिवर्तनशील मानकों के द्वारा साधुता की मौलिक आस्था खण्डित नही होनी चाहिए। सुविधावादी मनोवृत्ति नही बननी चाहिए और स्वच्छन्दता से कोई प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

'सामूहिक साधना' जीवन की एक शैली है। इस शैली को स्वीकार करने वाले साधक अपने लक्ष्य के प्रति पूरे मन से समर्पित रहे, साधना (साधुता) के प्रति आस्थावान रहें और व्यवस्था के प्रति पूरे मन से जागरूक रहें, यह आवश्यक है। लक्ष्यहीनता व्यक्ति को जितना भटकाती है, समर्पण का अभाव भी उससे कम भटकाने वाला नही है। समर्पित व्यक्ति असंभव को भी संभव करके दिखा देता है।

कोरिया के एक सन्त हुए हैं 'रिझाई'। उनके पास एक युवक आया। वह साधना करने का इच्छुक था। उसने रिझाई से साधना का क्रम सीखा और जानना चाहा कि सिद्धि प्राप्त करने में कितना समय लगेगा। रिझाई ने उसे कम-से-कम तीस वर्प साधना करने का निर्देश दिया। तीस वर्प की वात सुन युवक घवरा गया। उसने सोचा कि उसे भ्रम हो गया है। भ्रम दूर करने के लिए उसके मुंह से निकल पडा—'तीस वर्प लगेगे।'

रिझाई वहां से उठते-उठते बोले—'तीस नहीं, साठ।' युवक यह बात सुन गहरे सोच में खो गया। उसके मन के सन्देह ने साधना की अवधि को बढ़ाकर दुगुना कर दिया था। उसके मन पर गहरा धक्का लगा। वह निराश होकर वहां से लौट गया।

कुछ समय बीता। एक दिन उस युवक की विचार-तरंगों में एक आकृति उभरी—साधना में तीस या साठ वर्ष क्या, पूरा जीवन भी लग जाए तो कम है। विचारों की इन ऊर्मियों ने उसको आन्दोलित किया। वह बेचैन हो उठा। एक क्षण भी घर में ठहरना मुश्किल हो गया। अविलम्ब वह सन्त के पास गया। उसने अपनी भूल स्वीकार की। काल की प्रतिबद्धता से मुक्त होकर वह साधना में लग गया।

समय अपनी गति से आगे सरक रहा था। महीने बीते, वर्ष बीते। तीन वर्षो की अवधि सम्पन्न होते-होते युवक को सफलता मिल गयी। वह विस्मय और उत्साह से भरकर गुरु के समक्ष उपस्थित हुआ। गुरु के चरणों में प्रणत हो उसने जिज्ञासा की—'गुरुदेव! यह क्या हुआ? आपने कहा था कि साठ वर्ष साधना करनी होगी तब कोई परिणाम निकलेगा। आपकी कृपा से तीन वर्षो में ही चमत्कार कैसे हो गया?' यह बात सुन रिझाई मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बोले—"वत्स! उतावलापन, सदेह और असमंजस होता है तो साधना मे समय अधिक लगता है। पहली बार जब तुम मेरे पास आए थे, उस समय तुम्हारे मन में ये सब बातें थी, इसलिए साठ वर्ष से पहले सिद्धि की कोई संभावना ही नही थी। तुम घर गए और लौटकर आए तब तक बहुत कुछ बदल गए थे। उस बदलाव के कारण ही तुम्हें सफलता मिली है। लक्ष्य के प्रति गहरे समर्पण, धैर्य और लगन के बल पर आज इतने कम समय मे तुम वहा पहुंच गए हो, जहां तुम्हे पहुंचना था।"

लक्ष्य के प्रति सम्पूर्ण समर्पण होता है, तभी साधना के क्षेत्र मे आस्था का दृढ़ीकरण हो सकता है। जिस साधना-पथ को चुन लिया, उस पर कदम बढ़ाते समय हजार कठिनाइयां उपस्थित हो जाएं और एक क्षण के लिए भी मानस विचलित न हो, इसका नाम है आस्था। ऐसी आस्था की नाव पर सवार होकर ही व्यक्ति तूफानी समुद्र को पार कर

सकता है।

आस्था की जमीन पर व्यवस्था के अंकुर अपने आप फूट जाते हैं। पारिवारिक, सामाजिक, या आध्यात्मिक कैसा ही जीवन क्यों न हो, व्यवस्था पक्ष की सुघडता जरूरी है। अच्छी से अच्छी व्यवस्था भी असफल हो जाती है, यदि उसका सही रूप मे पालन न हो। व्यवस्थाओं के अतिक्रमण का सिलसिला वहां शुरू होता है, जहां आस्था का बल नही रहता। समर्पण और आस्था के तटबन्ध व्यवस्था के प्रवाह को उसी सीमा मे रखते हैं, जहां उसे होना चाहिए।

जिस साधु संस्था के भीतर समर्पण, आस्था और व्यवस्था की सत्ता का निवास है, वह किसी भी सदी में पहुंच जाए, उसे कोई चुनौती नही दे सकता। कंप्यूटर युग मे साधु संस्था के स्वरूप को ऊर्जस्वल और उपयोगी बनाकर रखना साधु-साध्वियों का काम है। वे अपने इस दायित्व को समझें और उसे पूरा करने के लिए अपने अन्तरंग व्यक्तित्व का विकास करे। वे इस बात को न भूले कि कप्यूटर के द्वारा मनुष्य अपनी कुछ समस्याओ का समाधान पा सकता है। हर समस्या का समाधान उसके पास नहीं है। मानसिक शान्ति नाम का तत्त्व तो उसके पास है ही नही। कप्यूटर आदमी को हिसा सिखा सकता है, अलगाव सिखा सकता है। अहिंसा और मैत्री की भावना संप्रेषित करने की क्षमता उसमें नही होगी। भावनात्मक रूप में वह कुछ भी नही कर सकेगा। ऐसी स्थिति मे मानसिक शान्ति हासिल करने की वैज्ञानिक प्रक्रिया का आविष्कार करने वाली साधु-संस्था कंप्यूटर युग के आदमी के लिए भी सबसे बडा आश्वासन बन सकती है।

मूल्यहीनता की समस्या

मनुष्य एक स्पन्दनशील और अनुभूतिशील प्राणी है। उसके पास चिन्तन है, विवेक है और पुरुषार्थ है। चिन्तन और विवेक के आधार पर वह एक जीवनशैली का निर्धारण करता है, विकास करता है और उसे पीढी दर पीढ़ी संक्रांत करने का प्रयास करता है। जिस युग के मनुष्य उसे परिपूर्णता के साथ अंगीकार कर लेते हैं, उनकी सास्कृतिक धरोहर सुरक्षित रह जाती है। जो लोग युगीन सन्दर्भो के साथ जीवनशैली में भी हेराफेरी कर लेते हैं, वे दो श्रेणियों मे बंट जाते हैं। पहली श्रेणी में वे लोग आते हैं जो कुछ नये मूल्य स्वीकार करते हैं। दूसरी श्रेणी के लोग मूल्यबोध को विस्मृत कर स्वार्थ, सुविधा और स्वच्छन्दता को रास्ता दे देते है। ऐसे व्यक्तियों की जीवनशैली हर युग में नई-नई समस्याओ को सरजती रही है।

बीसवी सदी की समस्याओ में सबसे बड़ी समस्या है मूल्यहीनता की। सयम का मूल्यांकन होता तो बढती हुई आवादी की समस्या जटिल नही होती। अपरिग्रह का मूल्य समझा जाता तो गरीबी की समस्या को पांव पसारने का अवसर नही मिलता। पुरुषार्थ को महत्त्व मिलता तो वेरोजगारी की समस्या नहीं बढती। अहिंसा की मूल्यवत्ता स्थापित होती तो आतकवाद की जड़े गहरी नहीं होती। एकता और अखण्डता का मूल्यांकन होता तो धर्म, भाषा, जाति आदि के नाम पर देश का विभाजन नहीं होता। मानवीय एकता या समता का सिद्धात प्रतिष्ठित होता तो जातीय भेदभावो को पनपने का अवसर नही मिलता, छुआछूत जैसी मनोवृत्तियों को अपने पख फैलाने के लिए खुला आकाश नहीं मिलता। इस प्रकार की और भी अनेक समस्याए है, जो नासूर वनकर असाध्य

विभज्यते—यह महावीर वाणी की ही प्रतिध्वनि है। मनुष्य-मनुष्य में यदि कोई अन्तर है तो वह आचरणगत है। आचरण ऊंचा है तो एक हरिजन भी महान् हो सकता है। श्रेष्ठ आचरण के अभाव में महाजन कुल में जन्म लेने पर भी कोई व्यक्ति उस ऊंचाई तक नहीं पहुंच सकता।

हरिजन बन्धु जानना चाहते हैं कि उनके लिए जैन धर्म की करनी क्या है? जैन धर्म के अनुसार सबसे बड़ी करनी है—व्यसनमुक्त जीवन जीना, सड़ी-गली रूढियों को दफनाना और जूठन खाना छोड़ना। व्यसन चाहे शराब का हो, तम्बाकू का हो, जुए का हो, चोरी का हो या और कोई हो, जीवन की उज्ज्वलता उससे धूमिल हुए बिना नहीं रहती। अच्छे-अच्छे लोग इन दुर्व्यसनों की गिरफ्त में आकर बरबाद हो गए। जो लोग अपनी विवेक की आंख को खुला रखते हैं, वे कभी ऐसा गलत रास्ता नहीं ले सकते।

सामाजिक रूढियां जो अर्थहीन तो हैं ही, अनर्थ को बढ़ाने वाली है। जो अन्धविश्वास की नींव पर खड़ी हैं और मध्यम वर्ग के परिवारो की आर्थिक व्यवस्था को असंतुलित बनाने वाली हैं। ऐसी परम्पराए, जिनकी चेतना समाप्त हो गई है, उनके शव को लादकर चलना कहां की समझदारी है? समाज में ऐसी क्रांति की अपेक्षा है, जो समाज को रूढ़िमुक्त बना सके।

जूठन खाना भी एक सामाजिक रूढ़ि है। ऐसी रूढ़ियां ही तथाकथित उच्च वर्ग और निम्न वर्ग की सृष्टि करती हैं। जैन धर्म की अवधारणा के अनुसार जूठन खाना और खिलाना दोनों पाप है। हरिजन लोग जूठन खाते हैं। क्यों? क्या वे पुरुषार्थ नहीं करते हैं, जो उन्हे किसी की जूठन खाने के लिए बाध्य होना पड़े? यदि देश भर के हरिजन बन्धु संगठित होकर जूठन खाने की प्रवृत्ति का अस्वीकार कर दे तो अनायास ही एक बड़ी क्रान्ति घटित हो सकती है। यह बिन्दु हरिजनों के लिए जितना विचारणीय है, उतना ही महाजनो के लिए है। अपने किस अहं की तुष्टि के लिए वे हरिजनो को अपनी जूठी पत्तलें खाने के लिए देते हैं? जैन धर्म के अनुसार 'णो हीणे णो अइरित्ते' का सिद्धांत शाश्वत है। कोई मनुष्य हीन नहीं है और कोई विशिष्ट नही है। ऐसी स्थिति में स्वयं को

पुत्र के भोलेपन से जाबाला भीतर तक भीग गई। वह मौन नही रह सकी। पुत्र के सिर को सहलाते हुए उसने कहा—"बेटा! मै स्वयं नहीं जानती कि तुम्हारा पिता कौन है? मेरे जीवन का वह सबसे कठिन समय था। इस पापी पेट को भरने के लिए न जाने मुझे कितने लोगो की खिदमत करनी पड़ी। तू मेरी उस अभिशाप भरी जिन्दगी का वरदान है, बेटा! मैं तुझे कैसे बताऊं कि तेरा पिता कौन है?"

बालक में और कुछ सुनने का धैर्य नही रहा। वह जाबाला का हाथ छुड़ाकर भागा और सीधा आश्रम मे पहुंच गया। जितनी सहजता से उसकी मां ने अपने जीवन के गूढ़तम रहस्य को खोला था, उतनी ही सहजता के साथ सत्यकाम बोला—'गुरुदेव! मेरी मां नहीं जानती कि मेरे पिता कौन हैं?' ऐसा कहते हुए उसने वह सब कुछ उगल दिया, जो कुछ समय पहले अपनी मां के मुंह से सुना था।

बालक की बात सुनते ही सारे विद्यार्थी खिलखिलाकर हंस पड़े। उनके मुंह से अनायास ही निकल गया—'तुम वेश्यापुत्र हो। इस आश्रम में तुमको प्रवेश नहीं मिल सकता। यहां केवल ब्राह्मण ही पढ़तें हैं।' सत्यकाम की आंखों के आगे अंधेरा छा गया। वह पूरी तरह से निराश होकर गुरुजी की ओर देखने लगा।

गुरुजी ने सत्यकाम के चेहरे पर गहराती हुई मासूमियत और निराशा को पढ़ा। वे बिना एक क्षण खोए अपनापे के साथ बोले—'वत्स। निश्चित रूप से तुम ब्राह्मण हो। आओ, तुम्हें यहां प्रवेश मिलेगा। तुम सब प्रकार से योग्य हो। तुम्हारी मां ऐसी सत्यवादिनी है तो तुम भी सत्यकाम जावाला हो। जाओ, अपनी मां से अनुमति लेकर आओ। मैं तुम्हे ब्रह्म-विद्या पढ़ाऊंगा।'

यह वही सत्यकाम है, जिसकी मां जावाला को लक्ष्य कर एक पूरा उपनिषद वन गया—जावालोपनिषद। जाबाला की सत्यनिष्ठा उसके चरित्र का इतना उज्ज्वल पक्ष है, जो किसी भी निमित्त से धूमिल नही हो सकता।

सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता, असंग्रह, व्यसन-मुक्ति आदि जैन धर्म के आदर्श है। किसी भी वर्ग के लोग इन आदर्शो को आत्मासात कर धर्म

समाज-विकास का आधार : विधायक भाव

जहां एक से अधिक व्यक्ति एक साथ मिलकर रहते हैं, मिल बांटकर काम करते है और एक-दूसरे के सुख-दु.ख में सहभागी बनते हैं, वहा समाज बन जाता है। सामाजिक जीवन, जीने की एक शैली है। दूसरी शैली है वैयक्तिक। दूसरी शैली से जीने वाला व्यक्ति अकेला रहता है, अकेला सोचता है और अपना सुख-दु:ख स्वयं भोगता है। इस कोटि का व्यक्ति ससार से उदासीन और आत्मलीन योगी हो सकता है। अथवा पराकाष्ठा तक पहुंचा हुआ स्वार्थी व्यक्ति ऐसा जीवन पसन्द करता है। इस जीवन मे विकास की नई दिशाओं को खोलने का अवकाश कम रहता है। क्योकि अन्तर्मुखता की स्थिति में बहुमुखी दिशाएं सिमटकर एकमुखी हो जाती हैं। दूसरी ओर उत्कृष्ट कोटि की स्वार्थपरता में विकास की संभावना ही समाप्त हो जाती है। इस दृष्टि से यह मत स्थिर हो सकता है कि व्यक्ति को विकास के लिए समूह के साथ जुड़ना जरूरी है।

सामूहिक जीवन मे कुछ कठिनाइयो की उपस्थिति अपरिहार्य है। पर वहां कुछ विशेष सुविधाए भी मिलती है। इसलिए व्यक्ति सामूहिक जीवन स्वीकार करता है। सभूह-चेतना को विकास के अवसर न मिलें तो वहा जड़ता की काली छाया मंडराने लगती है। सवाल यह है कि सामाजिक विकास का स्वरूप क्या है? और वह कैसे हो सकता है? स्वरुप की दृष्टि से विकास को किसी एक ही फ्रेम मे फिट करना मुश्किल है। देश, काल, परिस्थिति, समाज की बुनावट, समाज की अपेक्षा और समाज में जीने वाले व्यक्तियो की महत्त्वकाक्षा के अनुसार विकास की अनेक अवधारणाएं स्थिर की जा सकती है। मेरे अभिमत से विकास कैसा हो, इससे भी अहम प्रश्न है—विकास कैसे हो? विकास का मूल है विधायक

भाव। जिस समाज के लोग विधायक चिन्तन करते हैं, विधायक नजरिया रखते है और विधायक भाव से काम करते हैं, वहां विकास के लिए आगे से आगे दरवाजे खुलते जाते है। निषेधात्मक भाव विकास में सबसे वडी बाधा है। निषेधात्मक भावों में जीने वाले व्यक्ति न मन से स्वस्थ रह सकते हैं, न शरीर से स्वस्थ रह सकते हैं और न अपने व्यक्तित्व को स्फुरणशील बनाए रख सकते हैं। निराशा, कुंठा, अनुत्साह, चिन्ता, कर्तव्य-विमुखता आदि शिकंजे आदमी को उतने ही कसते है, जितने वे निपेधात्मक भावों में जीते है।

विधेयात्मक भाव जीने के प्रति ही आशा नही जगाते, व्यक्ति को कर्तव्य के क्षेत्र में उतार देते हैं। श्रमशीलता, सहनशीलता, आचारनिष्ठा, विनम्रता, प्रामाणिकता आदि विधायक भावो की निष्पत्तियां हैं। इन भावो मे जीने वाले लोग अपने सम्मान और दूसरे के अपमान से सुखी नहीं होते। वास्तव मे वे किसी का अपमान देख भी नही सकते। ऐसे लोग श्रम के देवता होते हैं। वे कभी किसी का शोषण नहीं करते। किसी को धोखा नहीं देते। समाज के अन्तिम व्यक्ति तक सवको अपना आत्मीय मानते हैं। ऐसे व्यक्ति जिस समाज मे होते है, वह समाज उत्तरोत्तर विकास के रास्ते मापता रहता है।

जो लोग विधायक भावो मे नहीं जीते, जो यह सोचते हैं कि मुझे कितना जीना है, अधिक से अधिक पचास-साठ वर्ष, इस छोटे-से जीवन मे मै कव तक काम करता रहूगा; अब आने वाले सोचें; मै जो कुछ करूंगा, उसका उपभोग तो कर नहीं सकूंगा। विना मतलव इतना श्रम क्यो करू—इस प्रकार का चिन्तन समाजवाद या समाज-विकास के लिए घातक है।

एक अस्सी वर्ष का व्यक्ति वाग मे आम के पेड़ लगा रहा था। कोई राहगीर उधर से गुजरा। उसने पूछा—'वावा! क्या कर रहे हो?' वह वोला—'मै आम के पेड़ लगा रहा हूं।' 'तुम्हारी उम्र कितनी है, वावा?' राहगीर ने पूछा। वावा बोला—'अस्सी पार करने वाला हू।' 'आम कितने वर्षो मे फलेगा, वावा?' राहगीर के इस प्रश्न पर वावा वोला—'वारह वर्ष तो लग ही जाएंगे।' राहगीर सहानुभूति प्रकट करते हुए वोला—'वावा!

बारह वर्ष बाद कौन खाएगा इन फलों को? क्या तुम इतने दिनों तक जिन्दा रह सकोगे?'

बाबा ने अपनी झुकी हुई नजरें ऊपर उठाई। उसने राहगीर की ओर देखकर कहा—'तुम भारतीय हो क्या, जो ऐसी बात कर रहे हो? मै जो श्रम कर रहा हूं, क्या अपने लिए कर रहा हूं? मेरे बाल-बच्चे, मेरा परिवार, मेरा समाज और मेरा देश—सभी को लाभ मिलेगा।' भारत पर किए गए इस करारे व्यंग्य से राहगीर तिलमिला उठा। पर वह कर भी क्या सकता था? व्यक्ति केवल अपने आप तक सीमित रहे, यह समाजवाद का सूत्र नहीं है। इससे समाज का विकास नहीं हो सकता।

एक बार मेघों ने घोषणा कर दी कि बारह वर्षो तक पानी नही बरसेगा। आषाढ का महीना आया। किसान कन्धे पर हल रखकर खेत की ओर चला। मेघो ने उसको टोकते हुए कहा—'पानी नही बरसेगा, हल लेकर क्यों जा रहा है?' किसान सुना-अनसुना कर खेतों में चला गया। दूसरे वर्ष ऐसा ही हुआ । फिर तीसरे वर्ष भी यही हुआ। मेघों ने पूछा—'बारह वर्ष तक पानी नहीं बरसेगा, यह जान लेने के बाद भी तुम हर साल खेत में क्यों जाते हो?' किसान संजीदगी के साथ बोला—मै जानता हूं कि पानी नहीं बरसेगा। फिर भी मैं खेत में जाऊंगा और हल जोतूंगा। क्योंकि मुझे अपनी भावी पीढ़ी को पगु नही बनाना है। वर्षा न होने के कारण मैने हल चलाना छोड़ दिया तो मेरे बच्चे हल चलाना भूल नही जाएंगे?' यह चिन्तन समाज-विकास का सूत्र है।

'मैं पिया, मेरा वैल पिया, अब चाहे कुआं ढह पड़े'—इस भाषा मे सोचने वाले लोग समाज-विकास के मूल पर प्रहार करते है। इस प्रकार की तुच्छ स्वार्थभावना विकास के रास्तों को बन्द कर समाज को अंधेरे गलियारों में ले जाकर छोड़ देती है। समाज का विकास करना है तो स्वार्थ की चेतना से ऊपर उठना ही होगा। /

'समाज-विकास का मूलभूत आधार है—मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा। जिस समाज के लोग प्रामाणिक नही है, सहनशील नहीं है, करुणाशील नहीं हैं, सयमी नही है, स्वावलम्वी नही है, वहा समाज-विकास की कल्पना भी नही हो सकती। मूल्यों की धरती पर ही विकास के वीजों का वपन

हो सकते हैं। बीज कितने ही बढ़िया और कीमती क्यों न हों. उपजाऊ धरती न मिले तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। विकास के कितने ही सपने देखे जाएं. जीवन में मानवीय मूल्यों की स्थापना जब तक नहीं होगी. एक-एक कर सारे स्वप्न बिखरते चले जाएंगे. पर विकास नहीं होगा।

आर्थिक विकास समाज की एक अपेक्षा है। उसे नकारा नहीं जा सकता। पर जो समाज अर्थ-प्रधान बन जाए. जहां विकास का मेरुदण्ड अर्थ बन जाए. वहां समस्याएं पैदा हो जाती हैं। केवल आर्थिक विकास के आधार पर खड़े होने वाले समाज का आयुष्य अधिक लम्बा नही हो सकता इसलिए समाज में इस समीक्षात्मक दृष्टिकोण का निर्माण होना भी जरूरी है कि किस तत्त्व को कितना मूल्य दिया जाए।

विकास का एक सूत्र है—धर्म। अधिकांश लोग धर्म की आराधना करते है मोक्ष के लिए, परलोक सुधारने के लिए अथवा परम्परा का निर्वाह करने के लिए। मोक्ष धर्माराधना की अन्तिम परिणति है। वह व्यक्ति की आखिरी मंजिल है। पर मध्यवर्ती पड़ाव सही नही होगे तो मंजिल की दूरी बढ़ती रहेगी। इस दृष्टि से सबसे पहले धर्म का आचरण व्यक्ति, परिवार तथा समाज के विकास को लक्ष्य में रखकर करना जरूरी है। जीवन मे धार्मिकता का अवतरण हुए बिना विकास की कल्पना साकार नही हो सकती।

विचारो के विस्तार को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जाए तो उसका फलित होगा—विकास की आधारशिला है अणुव्रत। अणुव्रत का एक-एक सूत्र ऐसा प्रकाश-स्तभ है, जो मूल्यहीनता के चौराहे पर भटके हुए लोगो को विकास का सही रास्ता दिखा सकता है। जिन लोगो ने अणुव्रत के आधार पर जीने की शैली अपनाई है, वे सहज रूप से समाज-विकास के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। जिनके मन मे ऐसी तड़प है, जो सही अर्थ मे विकास के इच्छुक है, उन्हे देर-सवेर इस रास्ते पर आना ही होगा।

बीमारी आस्थाहीनता की

हमारी ज्ञात दुनिया में मनुष्य की आबादी लगभग पांच अरब तक पहुंच गई है। मनुष्य को संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। उसकी श्रेष्ठता के कुछ मानदड भी हैं। उसके पास सोचने की शक्ति है। सोच के अनुरूप जीवन की दिशा बदलने की शक्ति है। संयम की शक्ति है। मनोवृत्ति को बदलने की शक्ति है। व्यक्तित्व को बदलने की शक्ति है और चेतना को रूपान्तरित करने की शक्ति है। इस शक्ति का उपयोग कौन कितना करता है, यह मनुष्य की समझ-शक्ति और विवेकशक्ति पर निर्भर है।

मनुष्य एक स्वप्नद्रष्टा प्राणी है। वह नित नये स्वप्न देखता है और उन्हें शक्ल देने का प्रयास करता है। इस प्रयास में मूल्यवान हिस्सा होता है उसकी आस्था का। यदि मनुष्य की आस्था उन मूल्यमानको के प्रति होती है, जो मानवता के आधार है तो उसका प्रयास सार्थक हो जाता है। आस्थाहीनता और गलत आस्था मनुष्य को लक्ष्य से दूर ले जाती है। आस्था का वल सवसे बड़ा बल है। इस बल के सहारे निर्बल व्यक्ति भी दुर्गम रास्तो को लांघकर मंजिल तक पहुंच जाता है।

आज का सवसे वड़ा संकट है मानवीय मूल्यों के प्रति अनास्था। अनास्था भी खंडित नहीं। अखण्ड रूप मे वह अपने पांव पसार रही है। अमुक व्यक्ति, वर्ग या समाज की अनास्था का प्रभाव सीमित क्षेत्र मे होता है। किन्तु जव वह सार्वजनिक रूप में प्रभावी होने लगती है तो उसे देश ओर काल का दुर्भाग्य माना जाता है। मनुष्य हो और उसमे मनुष्यता न हो, चरित्र न हो, नीति न हो, प्रामाणिकता न हो, वह क्या मनुष्य है? शरीर हो और उसमे प्राण न हो, वह शरीर किस काम का?

मनुष्य हो और उसमें मनुष्यता न हो, वह मनुष्य किस काम का? किन्तु आज ऐसे मनुष्यो के बोझ से धरती दब रही है। इस वोझ को कम करने के लिए मनुष्य को बदलाव का रास्ता लेना होगा।

भारत संसार का सबसे वड़ा लोकतांत्रिक देश है। लोकतंत्र का अर्थ है जनता का शासन। पर जब जन ही ठीक नही होगा, तो उसमे शासन करने की अर्हता कहां से आएगी? जिस राष्ट्र का जन प्रबुद्ध होता है, नीतिमान् होता है, धृतिमान् होता है, श्रमशील होता है, करुणाशील होता है, वह राष्ट्र प्राकृतिक आपदाओं का सागर भी आसानी से पार कर लेता है। किन्तु जहा मानवीय मूल्यो के प्रति आस्था का ही दुष्काल हो, वहां कुछ कदम आगे बढ़ना भी मुश्किल हो जाता है।

आज भारत की जैसी स्थिति है, वह चारों ओर से समस्याओ से आक्रान्त है। आफतों पर आफतो की मार कितनी दुःसह होती है! अतिवृष्टि, अनावृष्टि, असाध्य बीमारियां, व्यापक मनोमालिन्य, गरीबी और आपाधापी जीवित मनुष्य को मृत्यु की ओर धकेल रही है, वहां अलगाववादी मनोवृत्ति, साम्प्रदायिक दुराग्रह, आतंकवाद आदि समूची मानवता को ही लीलने के लिए कृतसंकल्प है। इस स्थिति के पीछे व्यवस्थाओं की कमी का हाथ हो सकता है। देश-काल की विवशता हो सकती है। पर इन सवसे बडा हाथ है नीतिहीनता का । यह एक ऐसा शल्य है, जिसका उद्धार किए बिना अन्य बीमारियो का उपचार भी नही हो सकता।

सम्राट का घोड़ा दिन-दिन कमजोर होता जा रहा था। पशु-चिकित्सको को बुलाया गया। उन्होने चिकित्सा की। लाभ नही हुआ। सम्राट को वहुत प्रिय था वह घोड़ा। वह उसे हर हालत में स्वस्थ देखना चाहता था। पर सही ढग से उसका निदान ही नहीं हो सका। एक वार वहा कोई अनुभवी वैद्य आया। उसने घोड़े को देखते ही कहा—"इसके शरीर मे कही कोई शल्य तो नही है? शल्य निकाले विना घोडा स्वस्थ नही होगा।" सम्राट के अनुचरों ने कहा—"कुछ समय पहले घोड़ा युद्ध में गया था। वहा उसे एक तीर भी लगा था। उसके बाद ही घोड़ा वीमार हुआ है।" वैद्य ने घोडे की शल्य-चिकित्सा की। शरीर के भीतर घुसा हुआ

शल्य बाहर निकाला। कुछ ही दिनों में घोड़ा पूरी तरह से स्वस्थ हो गया।

मूल्यों के प्रति व्यापक अनास्था मूलभूत बीमारी है। यह सब बीमारियों की जननी है। इसके कारण भ्रष्टाचार को प्रश्रय ही नही, पोषण मिला है। भ्रष्टाचार भी कितना व्यापक! ऊपर से नीचे तक। क से ह तक। कोई भी तो इसके चगुंल से मुक्त दिखाई नहीं देता। कितना लम्बा-चौड़ा जाल बिछा हुआ है इसका। मूल्यहीनता का एक रूप है रिश्वत। सरकारी तन्त्र पर तो यह विशेष रूप से हावी है। एक फाइल को एक टेबल से दूसरी टेबल तक पहुचने में वर्ष के वर्ष पूरे हो जाते हैं। पर रिश्वत मिल गई तो दस महीनों का काम दस दिन में और दस दिन का काम दस मिनट मे पूरा हो जाता है। लाइसेस लेना हो या टिकट लेना हो। कारखाना खोलना हो या मकान का नक्शा पास कराना हो। छोटा या बड़ा कोई भी काम हो, खुल्लमखुल्ला रिश्वत का दौर चलता है। दुकानदारों की 'पगड़ी' सामने दिखाई देती है। पर भीतर ही भीतर कितनी 'पगड़ियां' हजम हो जाती हैं, कुछ कहने की वात नही है।

आज का आदमी बाते वहुत लम्बी-चौडी करता है। पर जिस समय उसके भीतर का खोखलापन बेनकाब होता है तब पता चलता है कि उन खुबसूरत दावों का धरातल कितना वदसूरत है। उन गिने-चुने व्यक्तियों को एक किनारे छोड़ दें, जो जीवन के मूल्यों को समझते हैं और उनको आदर्श मानकर जीते हैं। फिर तो समूचा जन-प्रवाह एक ही दिशा मे बढ़ता दिखाई देगा। लगता है, मनुष्य के जीवन का सर्वोपरि मूल्य पैसा हो गया है। पैसा, जो जीवन चलाने का साधन है, जो हाथ को मैल कहलाता है, उसके पीछे आदमी का यों पागल हो जाना, कैसी विडम्बना है? पैसे के लिए पिता-पुत्र में झगडा होता है, भाई-भाई में लडाई होती है। क्या भाई और पिता से भी पैसा ऊपर है? पैसे के कारण कन्याओं की शादी मे व्यवधान आता है, पैसे के कारण दहेज हत्याएं होती हैं, क्या पैसे का मूल्य गुणों से अधिक है? समाजोपयोगी कामो मे दो पैसा लगाते समय सोचना पड़ता है और जहां अपने वैभव

का प्रदर्शन करना हो, वहां करोड़ों रुपये पानी की तरह बहा दिए जाते है। एक-एक शादी के प्रसग में पच्चीस-तीस करोड का व्यय। कहा से आता है इतना पैसा? इसके लिए गलत तरीके अख्तियार किए जाते है, मानवता को ताक पर रखकर धन बटोरा जाता है और एक अन्धी दौड़ मे सम्मिलित होकर अपने अह को पुष्ट किया जाता है। क्या मनुष्य का वुद्धि-बल और विवेक-बल इसी के लिए है?

अनैतिक तरीको से अर्थार्जन करने वाले लोगों के मन मे अपने पाप का थोडा भय भी रहता है। वे उस पाप के फल से बचना चाहते है। अपने बचाव के लिए वे भगवान् से माफी मागते है। माफी मागने की भापा अलग-अलग है, पर उसका कथ्य एक ही है। कुछ लोग मन्दिर मे जाकर वोलते हैं—"मो सम कौन कुटिल खल कामी।" कुछ व्यक्ति कहते है—"जिन तनु दियो ताहि विसरायो।" कुछ लोग स्वयं को धिक्कारते हुए कहते हैं—"ऐसो नमकहरामी।" कुछ लोग अपने आपको प्रभु के चरणो मे समर्पित करते हुए गाते हैं—"प्रभो! मेरे अवगुण चित न धरो।" इस प्रकार रटे-रटाए पद बोलकर व्यक्ति सोचते है कि उनके पाप साफ हो गए। इससे अधिक हो तो कोई व्यक्ति मंदिर की फर्श बनवा देता है, कोई वहां प्रतिमा बिठा देता है और स्वयं को वहुत बड़ा धार्मिक मान लेता है। ऐसे लोग भी इस संसार मे हैं, जो गरीबो को जूठी पत्तले चटाकर पुण्य कमाते है। ऐसे व्यक्तियों पर ही तरस खाकर किसी कवि ने लिख दिया—

"तुम पुण्य कार्य मत करो भले ही, किन्तु करो मत पाप,
पुण्य के फल को पा लोगे।
मत रटो राम का नाम भले ही, किन्तु करो सत्काम,
राम के बल को पा लोगे।"

राजनीतिज्ञ और व्यवसायी ही ऐसा करते है, यह वात नही है, धर्म का क्षेत्र भी इससे अछूता नही है। बड़े-बड़े सन्तो और महन्तो से मिलने के लिए रिश्वत देनी पड़ती है। भगवान् के दर्शन करने है तो पुजारियों को पत्र-पुष्प चढाना जरूरी हो जाता है। कहीं जमीन को लेकर झगड़ा

हो जाए तो उस स्थान में मंदिर या मस्जिद बना दी जाती है। ऐसा होने के बाद कानून में यह ताकत नहीं है कि वह उसे वहा से हटा सके। मन्दिर, मस्जिद आदि धर्मस्थान भी लड़ाई के अड्डे बन जाते हैं। ये झगडे भगवान् की भक्ति के नहीं, मिथ्या धारणाओ के हैं, गलत मनोवृत्ति के हैं। इसके कारण ही व्यक्ति भ्रष्टाचार की गिरफ्त में आता है। साधारण जन की तो बात ही क्या, साहित्यकार, पत्रकार, कवि, लेखक, सन्त-महन्त, पंडे-पुजारी और तथाकथित भगवान् तक इसी की छत्रछाया में पलते हैं। संसार की कोई भी शक्ति इतनी ताकतवर नहीं है, जो इस महामारी का नामशेष कर दे।

चुनाव-पद्धति कितनी खर्चीली हो गई है! इसमें जो पैसे आते है, कहा से आते हैं? दो नम्बर के पैसे से चुनाव लडकर आए प्रतिनिधि जनता को एक नम्बर की बात कैसे सिखा पाएंगे? पूंजीपति हो या गरीब, सभी भगवान् से वरदान चाहते हैं। कभी-कभी भगवान् ऐसे याचकों में उलझ जाते है।

पौराणिक मान्यता है कि एक पूंजीपति व्यक्ति भगवान् के पास जाकर बोला—"प्रभो! मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। बस, आपकी छत्रछाया मेरे सिर पर बनी रहे। मेरा यह ठाट-बाट सही-सलामत हो।" भगवान् ने कहा—"तथास्तु।" पूंजीपति खुश हो गया। दूसरा व्यक्ति आकर बोला—"भन्ते! मुझे कुछ नहीं चाहिए। पर इतना अवश्य चाहता हूं कि मनुष्य, मनुष्य बना रहे। वह किसी का गुलाम न बने। पूंजी का एकाधिकार उसके पास न रहे। कोई अमीर और कोई गरीब—ऐसा भेदभाव न रहे।" भगवान् ने उसको भी कह दिया—"तथास्तु।" यह वात सुनते ही पूंजीपति घवराया। वह भगवान् के पास जाकर बोला—"प्रभो! आपने यह क्या कर दिया? मेरे पास कोई गुलाम नहीं रहेगा तो मेरा यह ठाट-वाट कहां रहेगा?" भगवान उसी में उलझ गए।

उलझनों और आफतों से भरे ससार मे आज ऐसे व्यक्तित्व की अपेक्षा है, जो लोगों के जीवन की दिशा वदल दे। महावीर, बुद्ध, ईसा, गांधी, कोई तो आए जो संसारी छल-फरेव से ऊपर उठकर मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा करे। भगवद्गीता में कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

यदि ईश्वर अवतार लेता हो और यह बात सही हो तो इससे अधिक वढिया अवसर कोई आएगा, मै नही समझता। कोई ईश्वर धरती पर आये या नही, मनुष्य को अपना पुरुषार्थ काम में लेना होगा। अन्यथा भ्रष्टाचार की बीमारी से छुटकारा नहीं मिलेगा। इस बीमारी का निदान और उपचार किए बिना दूसरी समस्याओं को सुलझाने की बात वृक्ष के पत्तो, टहनियो और शाखाओ को काटने के समान है। जब तक यह क्रम इसी रूप में चलेगा, एक स्वस्थ समाज की संरचना नही हो पाएगी।

विकास का मानदण्ड

अणुयुग स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का संकेत है। एक समय था जब व्यक्ति या राष्ट्र की सुरक्षा के साधन स्थूल थे। दुर्ग, कोट, परिखा आदि सुरक्षा के मूलभूत उपाय थे। भाला, बरछी, तलवार, बन्दूक आदि साधन आत्मरक्षा के साथ शत्रु को प्रतिहत करने के काम में भी आते थे। समय बदला। परिस्थितिया बदली। आदमी बदला और उसकी सोच में भी बदलाव आ गया। उसने अपने काम करने के तरीके बदले और नये-नये साधनो का आविष्कार किया। विकास की इसी यात्रा में आदमी ने अणु की शक्ति का परिचय पाया। स्वय शक्तिशाली बनने के लिए तथा दूसरो को आतंकित बनाकर रखने के लिए उसने अणु आयुधों को जन्म दिया। अणु की असीम क्षमता जैन तीर्थकरों से अज्ञात नही थी। उनकी चेतना पर ध्वंस या आतंक का प्रभाव नहीं था। वे स्वयं अभय थे और संसार को अभय का बोधपाठ देना चाहते थे। इस दृष्टि से उन्होंने अणु के साथ व्रत की चेतना का योजन किया। अणुव्रत क्यों? इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर है—'अणुरपि व्रतस्यैष त्रायते महतो भयात्'—छोटा-सा व्रत भी व्यक्ति को महान भय से त्राण देने वाला होता है। इस धारणा ने मनुष्य को व्रत की शरण स्वीकार करने की प्रेरणा दी।

अणुव्रत तीर्थकरो की देन है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह शाश्वत सत्य है। शाश्वत का नवीनीकरण क्यों हुआ? क्या तीर्थकर उस सत्य को अपने साथ ले गए? अथवा समय की परतों के नीचे दब जाने से वह मनुप्य की पकड़ से दूर हो गया? क्या ढाई हजार वर्पो के इस अन्तराल मे धर्म की परम्परा विच्छिन्न हो गई। क्या धर्मगुरु और धर्मस्थान की गरिमा कम हो गई? ऐसा कौन-सा कारण उपस्थित हुआ, जिससे अणुव्रत

को नये रूप और नये परिवेश मे प्रस्तुत देने का विकल्प सामने आया?

तीर्थकर धर्म के अधिकृत प्रवक्ता होते है। वे जो कुछ कहते हैं, सत्य ही होता है। उनके द्वारा कहा हुआ सत्य त्रैकालिक होता है। पर सत्य को भी यदि ऊपर-ऊपर से पकड़ा जाए तो वह प्रभावी नही हो सकता। शिष्य गुरु के पास गए और बोले—'हमारी एक समस्या है। आप हमे समाधान सुझाएं। गुरु की वत्सल आखे शिष्यो पर टिकीं। शिष्य निहाल हो गए। उनकी जिज्ञासा मुखर हो उठी। वे बोले—'गुरुदेव! हम बहुत वर्षो से जपयोग का प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु अभी तक जीवन नहीं बदला है, व्यक्तित्व रूपान्तरित नहीं हुआ है। हमे कोई उपाय बताएं, जिससे वदलाव आ सके।'

गुरु ने शिष्यों से कहा—'तुम्हारी अधीरता को मै समझ रहा हू, पर अभी तुमको कुछ बता सकूं, वैसी स्थिति नहीं है। तुम प्रतीक्षा करो। समय आने पर तुम्हें रास्ता मिल जाएगा। इस बीच तुम एक काम करो। एक घडा ताडी से भरकर लाओ। उससे तुमको कुल्ला करना है। किन्तु ध्यान रहे, एक बूंद भी गले से नीचे न उतरे।'

गुरु के इस विचित्र निर्देश को सुन शिष्य स्तब्ध रह गए। पर निर्देश तो निर्देश था। वे उसका अतिक्रमण कैसे कर सकते थे! गुरु के निर्देश का पालन कर वे पुन उनके पास पहुंचे।गुरु ने पूछा—'ताड़ी लाए?' 'हां, गुरुदेव!' शिष्यो ने एक स्वर से उत्तर दिया। 'उससे कुल्ले किए?' गुरु का दूसरा प्रश्न था। शिष्यों ने स्वीकृति दी। गुरु का तीसरा प्रश्न था—'उससे तुम पर नशा तो नही छाया?' यह बात सुन शिष्यो को हल्की-सी हंसी आ गई। इस हंसी को गुरुदेव अन्यथा न ले, इस दृष्टि से वे तत्काल कुछ गंभीर होकर बोले—'आपका आदेश था कि ताडी की एक बूंद भी गले से नीचे न उतरे। गले उतरे विना उससे नशा कैसे छाएगा?'

गुरु ने मधुर स्मित विखेरते हुए कहा—'तुम्हें अपनी समस्या का समाधान मिला, या नही?' गुरु के इस वाक्य ने सव शिष्यो को चौंका दिया। वे एक क्षण के लिए अपने अतीत मे लौटे, पर कुछ समझ नहीं पाए। उन्होने अत्यन्त विनम्रता के साथ कहा—'गुरुदेव! हमारी मूढता

हमारे बोध मे बाधक है। आप ही हमें ज्ञान दें।' गुरु बोले—'उस दिन तुम कह रहे थे कि जप करते-करते इतना समय हो गया, फिर भी जीवन नहीं बदला। जीवन तब तक नहीं बदलेगा, जब तक जप में तल्लीन नहीं हो जाओगे। गले से नीचे उतरे विना ताड़ी का असर नहीं होता, वैसे ही होंठों-होठों से कितना ही मंत्र-जाप करो, व्यक्तित्व रूपान्तरित नहीं होगा। रूपातन्तरण के लिए हृदय से जप करना होगा।' शिष्यों को प्रतिबोध मिल गया।

यही बात धर्म या व्रत के साथ घटित होती है। जब तक धर्म और धार्मिक में तादात्म्य सम्बन्ध नही जुड़ेगा, जव तक व्रत और व्रती के बीच की दूरी समाप्त नही होगी, मनुष्य के जीवन में परिर्वतन नहीं होगा। धर्म का आचरण हो और जीवन न बदले, यह वैसी ही बात है जैसी खाना खाए और वजन न बढ़े।

राजा ने प्रमुख नागरिकों के सामने एक मेमना उपस्थित करके कहा—'इसको अच्छा खिलाओ। पर ध्यान रहे, यह मोटा न होने पाए।' नागरिक चिन्तित हो गए। शहर में एक बुद्धिमान आदमी रहता था। नाम था उसका रोहक। उसने नागरिकों को आश्वस्त करते हुए कहा—'इस मेमने को खाने के लिए घी, गुड़, चारा सब कुछ दो और इसे शेर के पिंजरे के निकट बांध दो। यह न मोटा होगा और न इसका वजन घटेगा।' दो महीने तक लगातार वैसा प्रयोग किया गया। मेमने का वजन बरावर रहा। नागरिको ने राजा को इसकी सूचना दी। राजा को बहुत आश्चर्य हुआ।

यही स्थिति आज के मनुष्य की है। वह अपने आपको धार्मिक मानता है धर्म के प्रति उसकी आस्था है। वह धार्मिक क्रियाकांडों में रस लेता है। फिर भी बदलता नहीं है। प्रश्न यह है कि उसके सामने कौन-सा शेर खड़ा है? मेरे अभिमत से उसके सामने तीन शेर है—स्वार्थ, सत्ता-लिप्सा और संपदा-लिप्सा। जब तक मनुष्य के सामने ये तीन शेर खडे रहेंगे, उसके जीवन पर धर्म का प्रभाव प्रकट नहीं हो सकेगा।

इस स्थिति ने अनेक चिन्तनशील लोगों को सोचने के लिए विवश किया। हम भी उस सोच से मुक्त नही रह सके। हमने सोचा, देश की

आजादी के साथ-साथ सोचा। उन शेरो के सामने व्रत की ज्योति प्रज्वलित करने का निर्णय लिया और अणुव्रत के नाम से एक आचार-संहिता प्रस्तुत कर दी।

अणुव्रत की किसी धर्मस्थान या किसी धर्मगुरु के साथ प्रतिबद्धता नहीं है। व्यक्ति धर्मस्थल में जाए या नही, धर्मगुरु के पास जाए या नहीं। पर जो कुछ करे, उसमें ईमानदारी को न छोडे, सत्यनिष्ठा को न छोड़े। ईमानदारी और सत्यनिष्ठा के संस्कार ही चारित्रिक उच्चता के मानदंड है। अणुव्रत की संपूर्ण आचार-संहिता चरित्र की आचार-सहिता है। इसकी ग्यारह धाराएं मनुष्य को सही अर्थ में मनुष्यता के शिखर पर पहुचाने वाली हैं। जातिवाद में अणुव्रत की आस्था नही है। लिंग, रंग, धर्म और भाषा की दीवारों का भी यहा कोई अस्तित्व नही है। इसमे एकमात्र चर्चा है उन जीवन्त-मूल्यों की, जिनके अभाव मे आज मानवता कराह रही है। भारत की संसकृति का आधार मानवता है, चरित्र है। उस संस्कृति का आज जैसा मखौल हो रहा है, चिन्ता का विषय है।

भारत एक ऐसा देश है जिसमे साइंस और टेक्नालॉजी से भी अधिक मूल्य अध्यात्म का है। इस देश में व्यक्ति के मूल्याकन की कसौटी वेशभूषा नही, चरित्र है। स्वामी रामतीर्थ अमेरिका गए। उनकी वेशभूपा अत्यन्त साधारण थी। एक अमेरिकन महिला को उनकी वेशभूपा देखकर हंसी आ गई। रामतीर्थ गंभीर हो गए। महिला की हंसी कुछ अधिक मुखर हो उठी। इस पर स्वामी रामतीर्थ बोले—'मैडम! आपके देश मे व्यक्ति का अंकन होता है वेशभूषा से और हमारे देश में अंकन होता है चरित्र से।' यह वात सुनकर महिला सकपका गई।

वर्तमान परिस्थितियों का विश्लेपण किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता, है कि यहा भी मूल्याकन का आधार वदल रहा है। यदि भारतीय लोग सत्ता, संपत्ति और वाहरी तड़क-भड़क के आधार पर व्यक्ति का अंकन करेंगे तो चरित्रनिष्ठ व्यक्ति किस दिशा मे आगे वढेगा? भारत की जनता को विरासत मे जो उज्ज्वल चरित्र मिला है, उसकी अवहेलना कर [illegible] कभी विकास के शिखर पर आरोहण नहीं कर सकेगी।

विकास का सही मानदण्ड चरित्र है। इस धारणा को पुष्ट करने के लिए सम्यक् दृष्टिकोण के निर्माण की अपेक्षा है। जब तक दृष्टिकोण सम्यक् नही होगा, मूल्यांकन का आधार सही नहीं होगा। जव तक दृष्टिकोण सम्यक् नही होगा, आचरण सही नही होगा। जब तक दृष्टिकोण सम्यक् नही होगा, प्रतिस्रोत में गति करने का साहस नही होगा। इसलिए सर्वोपरि तत्त्व है दृष्टिकोण का सम्यक्त्व। सम्यक् दृष्टि-संपन्न व्यक्ति अपने ज्ञान और आचरण की उज्ज्वलता के आधार पर परिवार, समाज और राष्ट्र को सही दिशा दिखा सकता है। अणुव्रत को यही अभीष्ट है। जो व्यक्ति अणु की शक्ति में विश्वास करते हैं, वे अणुव्रत की क्षमता पर भी भरोसा करें। भरोसा ही नही, उसका पूरा उपयोग कर अपने जीवन में नयी दिशा का उद्घाटन करें। ऐसा करके ही वे स्वयं को और ससार को अणुबम की विभीषिका से मुक्त कर सकते हैं।

जागरण विवेक का

मनुष्य बुद्धि-सम्पन्न प्राणी है। वह अपनी बुद्धि की धार तीखी करता है और उसके द्वारा जीवन के समर में विजय पाना चाहता है। वुद्धि के एक छोर पर अहंकार की सत्ता है और दूसरे छोर पर विवेक का साम्राज्य है। तीनों अपने-अपने केन्द्र मे अवस्थित है और अपनी अस्मिता की सुरक्षा के लिए जागरूक हैं।

एक दिन बुद्धि ने विवेक की ओर मैत्री का हाथ बढाया। अहकार कनखियों से झःककर देख रहा था। वुद्धि और विवेक की निकटता से से वह तिलमिला उठा। उसने बुद्धि के कान मे मन्त्र फूकते हुए कहा—वहन! तुम क्या कर रही हो? विवेक के साथ मैत्री? तुम इसे जगाना चाहती हो? ना-ना, ऐसी मूर्खता कभी न करना। उसे शान्ति से सोने दो। यदि तुमने इसको जगा दिया तो फिर न तू रहेगी, न मै रहूगा और न यह संसार रहेगा। तू हम सवका अस्तित्व समाप्त करना चाहे, तव तो इसे जगा; अन्यथा ऐसी थपकी दे जिससे इसकी नीद और गहरी हो जाए।

बुद्धि और अंहकार की इस वार्ता को एक कवि ने सुन लिया। उसके सवेदन की शिराओं मे रक्त का सचरण हुआ और वह मुखर हो उठा। उसने पूरे घटनाचक्र को अभिव्यक्ति देते हुए कहा—

> अहंकारो धिय ब्रूते नैन सुप्त प्रबोधय।
> उदिते परमानन्दे न त्व नाहं न वै जगत्।।

अहंकार के परामर्श का वुद्धि पर कितना प्रभाव हुआ, वह तो मुश्किल है; किन्तु इतना जरूर कहा जा सकता है कि

विवेक-चेतना पूरी तरह से जागृत नहीं हो सकी। यदि इसका समग्रता से जागरण हो पाता तो मानव-लोक में अहंकार को टिकने के लिए स्थान नहीं मिलता।

बुद्धि में अहंकार की सत्ता को चुनौती देने का साहस जाग जाए तो जीवन की अनेक विकृतियों का लोप हो सकता है। पर यह साहस तब तक नहीं जागेगा, जब तक विवेक की सुषुप्ति नहीं टूटेगी। एक क्षण के लिए जगा हुआ विवेक भी बहुत बड़ा काम कर सकता है। जागरण की यह प्रक्रिया स्थायी हो जाए तो फिर मनुष्य के व्यक्तित्व में ऐसा रूपान्तरण देखा जा सकता है, जिसकी आज कल्पना भी नहीं हो सकती।

विवेक क्या है? अच्छे और बुरे के भेद का बोध, सत्य और असत्य के स्वरूप का ज्ञान। अन्तरंग और बहिरंग के अन्तर की समीक्षा, यही तो विवेक है। यह एक ऐसा तत्त्व है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपना और दूसरों का पूरा-पूरा हित साध सकता है। विवेक ही वह शक्ति है, जिसके माध्यम से चोर, डाकू, हत्यारे आदि पापी लोगों के जीवन की दिशा भी बदल सकती है।

एक संन्यासी गांव के बाहर कुटिया में रहता था। पहुंचा हुआ संन्यासी था वह। उसके पास आने वाले लोग भी पहुंचे हुए होते थे। एक समय की बात है, कोई चोर हाथ में छुरा लेकर संन्यासी की कुटिया की ओर बढने लगा। सन्यासी ने दीपक की मद्धिम रोशनी में आगन्तुक को देखा और अपने अनुभव के दर्पण में उसके मनोभावों को समझ लिया। संन्यासी कुटिया से बाहर आया। चोर घबराकर भागने लगा। संन्यासी मीठे स्वर में बोला—"भैया! क्या बात है? लौट क्यों रहे हो? आओ, भीतर आओ, छुरे को वही छोड़ दो। बोलो, तुम्हें क्या चाहिए?"

संन्यासी के प्रथम सम्बोधन से ही चोर के भीतर प्रकाश की एक किरण जगमगा उठी। वह छुरे को वहीं फेंककर संन्यासी के पास पहुच गया और कहने लगा—"बाबा! मैं चोर हूं। चोरी करने आया हूं।" संन्यासी उसकी सच्चाई से प्रभावित होकर बोला—"तुम जानते हो, मैं एक फकीर हूं। फकीर की कुटिया में चुराने लायक क्या मिलेगा? यदि तुम तीन दिन

पहले सूचना कर देते तो मैं यहां थोड़ा-बहुत इन्तजाम कर देता। आगे से जब कभी इधर आना हो, पहले सूचित कर देना। मैं तुम्हारे लिए कोई व्यवस्था अवश्य कर दूंगा।"

संन्यासी की बात सुनकर चोर का सिर शर्म से नीचे झुक गया। वह संन्यासी के चरण छूकर लौटने लगा। संन्यासी ने कहा—"ऐसी क्या जल्दी है, कुछ देर तो ठहरो।" चोर संन्यासी के आभामण्डल से इतना अभिभूत हो गया था कि उसके निर्देश को टाल नही सका।

संन्यासी ने दस रुपये के नोट निकालकर चोर के हाथ में थमाते हुए कहा—"लो, अभी तो ये दस रुपये हैं, इन्हें ले जाओ। तुम्हारी इच्छा हो तो इनमे से एक नाट छोड़ दो। सुबह जरूरत पड़ेगी तो इतनी जल्दी किससे मागूंगा? यह जो एक रुपया मैं रख रहा हूं, यह मेरे पर तुम्हारा कर्ज है। दूसरी बार तुम जब भी इधर आओगे, मैं इसे चुका दूगा।"

संन्यासी की कुटिया से निकलकर चोर भागा, रास्ते में वह पकड़ा गया। पुलिस ने पूछताछ की। जांच-पडताल में उसके पास नौ रुपये के नोट निकले। किन्तु उसने चोरी की बात स्वीकार नहीं की। साक्षी के लिए संन्यासी को बुलाया गया। पुलिस ने संन्यासी से उसके बारे में पूछा तो वह बोला—"यह मेरा मित्र है और मुझसे मिलने आया था। मैने नो रुपये इसे भेट किए थे। एक रुपया और देना बाकी है।" यह बात सुन पुलिस ने चोर को छोड़ दिया।

चोर इस घटना से बहुत प्रभावित हुआ। उसने संन्यासी को एक सिद्धपुरुष के रूप में देखा, जिसने उसको जेल में जाने से वचा लिया था। वह श्रद्धा से अभिभूत हो गया। पुलिस से छुटकारा पाकर वह अपने घर गया। घर मे उसका मन नही लगा। उसके साथी अन्य चोर उसे चोरी करने के लिए उकसाने लगे। किन्तु उसमे इतना बदलाव आ गया कि अर्थ के प्रति उसकी आसक्ति ही समाप्त हो गई। वह घर छांड़कर पुनः संन्यासी के पास पहुंचा और बोला—"वावा! मेरी चोरी की आदत छूटी, उसके साथ घर भी छूट गया। अब मै आपकी सेवा मे रहूगा। मुझे अपना शिष्य वना लो।" चोर की उत्कट भावना देखकर संन्यासी ने उसको भी संन्यास की दीक्षा दे दी।

पूरी घटना को जानने के बाद कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं कि ऐसा क्यो हुआ? कैसे हुआ? इन प्रश्नों का सीधा-सा एक ही उत्तर है—संन्यासी ने चोर के विवेक को जागृत कर दिया था। विवेक जाग जाने के बाद कोई भी व्यक्ति चोर बना रहे, यह संभव नहीं है। विवेक ऐसा दरवाजा है, जिसके भीतर किसी बुराई का प्रवेश हो ही नहीं सकता। इस दृष्टि से हर व्यक्ति अपने सोये हुए विवेक को जगाने के लिए प्रयत्न करे। ध्यान, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा आदि ऐसे तत्त्व हैं, जिनके द्वारा विवेक-चेतना का जागरण अवश्यंभावी है। अपेक्षा एक ही है कि उन तत्त्वों का सम्यक् रूप से उपयोग और प्रयोग होता रहे।

निराशा के अंधेरे में आशा का चिराग

भारतीय संस्कृति में अर्थ और सत्ता से भी अधिक महत्त्व जीवन के मूल्यो का रहा है। जीवन का एक विशिष्ट मूल्य है संयम। सयम का सीधा सम्वन्ध व्रतों के साथ है। व्रत की छोटी-सी किरण जीवन को अन्धकार के साये से मुक्त कर सकती है। जो व्यक्ति अपने जीवन में व्रतो का सूरज उगा लेता है, वह अपने समाज और देश को भी आलोक बांट सकता है। पर यह तभी सभव है, जब व्यक्ति जिन्दगी के टेढे-मेढे गलियारों को धैर्य के साथ पार कर दे और साधना के जलाशय पर पहुंचकर अपनी सारी थकान दूर कर ले।

साधना का निर्मल जलाशय तब तक ही सुखकर और हितकर होता है, जव तक उस पर सुविधाओं की शैवाल नहीं जम जाती है। संयम की साधना में सुविधाओ की कोई प्रतिवद्धता नहीं रहती। जैन मुनियो की साधना मे तो सुविधावाद पनप ही नही सकता। कुछ लोगो का चिन्तन है कि जैन मुनि बनने वाले व्यक्ति पलायनवादी मनोवृत्ति के शिकार होते है। परिवार या समाज की प्रतिकूल परिस्थितियो से प्रताडित होकर अथवा अपनी महत्त्वाकांक्षा को नया रास्ता देने के लिए कुछ लोग साधु बन जाते हैं। इस प्रकार का चिन्तन जितना सहज और सरल है, साधना का पथ उतना सरल नहीं है। जैन मुनि की साधना स्वीकार करने वाले को अहंकार और ममकार—इन दोनो को प्रभावहीन वनाना जरूरी है। जब तक व्यक्ति के भीतर अहं जागृत रहता है, वह अपनी साधना और साध्य के प्रति समर्पित नही हो सकता। ममकार का जाल भी इतना उलझा हुआ होता है कि उसमें फंसा रहने वाला व्यक्ति निरपेक्ष होकर कुछ कर भी नही पाता। ममकार का सम्वन्ध व्यक्ति, शरीर और

पदार्थ सबके साथ जुड़ा हुआ है। अहंकार और ममकार के नागो को विषहीन बनाने के बाद ही उनका उपद्रव समाप्त हो सकता है।

मुनि धर्म में दीक्षित होने वाला साधक उस पथ को स्वीकार करता है, जिस पर चलने से उसे सफल और सार्थक जिन्दगी का अनुभव होने लगता है। जिस व्यक्ति मे अखण्ड जीवट और अविचल चित्त होता है, वह हजार-हजार कठिनाइयों के उपस्थित होने पर भी उस स्वीकृति पथ का त्याग नहीं करता है। जो साधक अपने माता-पिता, भाई-बहन आदि आत्मीय रिश्तों को तोड़कर जीवन-मूल्यों के साथ नये रिश्ते स्थापित करता है, वह किसी भी व्यक्ति के साथ कैसे बंधेगा? साधक के नये रिश्तों को मान्यता देते हुए किसी कवि ने लिखा है—

> धैर्य यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिर गेहिनी,
> सत्यं सूनुरय दया च भगिनी भ्राता मनः-संयमः।
> शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्,
> एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे! कस्माद् भयं योगिन.?

धैर्य जिसका पिता है, क्षमा जिसकी माता है, शान्ति जिसकी सहचरी है, सत्य जिसका पुत्र है, दया जिसकी बहन है, मनःसयम जिसका भाई है, भूतल जिसकी शय्या है, दिशाएं जिसके वस्त्र हैं और ज्ञानामृत जिसका भोजन है, ऐसे योगी को किससे भय हो सकता है?

जैन मुनि अकिचन होता है। उसके पास साधना मे सहयोगी धर्मोपकरणो के अतिरिक्त कुछ भी नही होता, इस दृष्टि से उसके अकिंचन नाम की सार्थकता है। उसके पास रहने के लिए अपना अगार/घर नही होता, इसलिए वह अनगार/अनिकेत कहलाता है। घर छोड़ दिया, पर जव तक शरीर है, उसके लिए मकान की जरूरत भी पड़ती है। मुनि जव तक सिद्धावस्था मे पहुंचने की स्थिति प्राप्त नही करता है, वह शरीर को नहीं छोड सकता। शरीर के प्रति उसे किसी प्रकार का ममत्व नही रखना है, पर धर्म-साधना में सहयोग पाने के लिए शरीर की सार-संभाल करनी पड़ती है। शरीर को सर्दी-गर्मी से वचाना, भोजन देना, वीमारी की स्थिति मे उसकी चिकित्सा करना या कराना

आदि प्रवृत्तियां जब तक होती हैं, तब तक आवास के लिए मकान की जरूरत भी रहेगी।

सवाल एक ही है कि मुनि के पास जब किसी प्रकार की संपत्ति ही नही है तो उसे मकान कैसे मिलेगा? इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए जैन आगमों मे बताया गया है—'सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं'। साधु के पास सब कुछ याचित होता है, अयाचित कुछ भी नही होता। भोजन, पानी, औषधि आदि की तरह मकान के लिए भी उसे याचना करनी होती है। याचना करने पर जो मकान मिले, वह मनोगत ही हो, यह आवश्यक नही है। कभी उसे टूटी-फूटी झोपड़ी तक मयस्सर नहीं होती और कभी ऐसी आलीशान कोठी मिल जाती है, जिसके बारे मे कल्पना भी नही हो सकती। कुछ लोग मनुहारे करके साधु को अपने मकान मे ठहराते हैं तो कुछ लोग ऐसे होते है जो ठहरने की स्वीकृति देकर भी समय से पूर्व ही मकान खाली करा लेते है। कुछ स्थानों मे ऐसे मकान मिलते है, जिनका आगन ऊबड़-खाबड होता है, जिनमे हवा और प्रकाश आने के लिए एक झरोखा भी नही होता तथा जो सीलन और बदबू से भरे रहते है। ऐसे मकान में प्रसन्न मानसिकता से रहना और मनोनुकूल बंगलो मे भी उदासीन भाव से रहना, इस संकल्प के सहारे साधु अपनी चर्या का पालन करते है।

साधु एक साधनाशील साधक है। वह अभी तक वीतराग नही बना है, सिद्ध नही बना है। ऐसी स्थिति में अनुकूलता और प्रतिकूलता का मन पर कोई प्रभाव न हो, यह बहुत कडी साधना है। साधनाकाल में किसी क्षण मन दुर्बल हो जाए और प्रतिकूल परिस्थिति को सहन न कर पाए, उस समय आगमवाणी उसे सशक्त आलम्बन दे सकती है। उस आलम्बन के सहारे साधक अपने फिसलते हुए मन को भी संभालकर रख सकता है।

प्रतिकूल मकान मे ठहरने की समाधि भंग होने लगे, उस समय साधक उत्तराध्ययन सूत्र के एक सूक्त (२/२३)—'किमेगरायं करिस्सइ' को सामने रखकर सोचे—"मकान कैसा भी हो, मुझे करना क्या है? आखिर मुझे यहां रहना कितना है? अपना पूरा जीवन तो मुझे इसमें बिताना

नहीं है, फिर मन में उद्वेलन क्यो? यहां एक-दो रात विश्राम करके जाना तो आगे ही है। कुछ गृहस्थों को तो ऐसे मकान भी उपलब्ध नही हैं। फिर मेरे मन पर ऐसी छोटी बात का असर क्यों हो? संसार मे जो कुछ है, परिवर्तनशील है। घटिया से घटिया और बढ़िया से बढिया, हर वस्तु बदलेगी। उत्पाद् और व्यय पदार्थ का स्वभाव है। अच्छा और बुरा मात्र मन की कल्पना है। जो मकान मुझे रुचिकर नहीं लगता, वही किसी को बहुत अधिक प्रिय हो सकता है। ऐसी स्थिति में मुझे अपनी समता को खण्डित नहीं करना चाहिए। मैंने अपना घर छोड़ दिया। अब दूसरे अच्छे घरो की लालसा मन में रहेगी तो उस एक घर को छोड़ने की सार्थकता क्या है?" इस प्रकार बार-बार अनुप्रेक्षा करने वाला साधक मानसिक दुर्बलता से उबर जाता है।

'यह भी बदल जाएगा' एक ऐसा स्वर्णिम सूत्र है, जो निराशा के अधेरे में आशा का चिराग जला देता है। यह सूत्र सुखी-दु:खी, सम्पन्न-दरिद्र, साधु-गृहस्थ सबके लिए आलम्बन बन सकता है। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी सन्मार्ग पर अडिग रहने वाले व्यक्तियो के लिए सबसे बड़ा आधार यही है कि वह उस परिस्थिति मे अनित्यता का दर्शन करता है। किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति मे निरन्तरता का आभास व्यक्ति को तोड़ देता है। पुरुषार्थी, आशवादी और सकारात्मक दृष्टि वाला व्यक्ति कभी भी टूटता नहीं है। इस प्रकार के व्यक्तित्व को निर्मित करने और सुरक्षित रखने के लिए 'किमेगराय करिस्सइ' जैसे आदर्श वाक्यो का कवच धारण कर लिया जाए तो सुविधावादी मनोवृत्ति के द्वारा व्यक्तित्व में किसी प्रकार के छेद होने की सभावना नहीं है।

आवेश का उपचार

चीन का प्रधानमंत्री 'गोत्से' ध्यान सम्प्रदाय के एक बड़े साधक के पास गया। उसने पूछा—"अहं की परिभाषा क्या है?" साधक यह प्रश्न सुनकर कुछ गंभीर हो गया। प्रधानमंत्री ने दूसरी बार अपना प्रश्न दोहराया। संत कृत्रिम रोष प्रकट करता हुआ बोला—"देश के प्रधानमंत्री बने हो, तुम्हे बोलने की भी तमीज नहीं है। चले जाओ यहा से! क्यों फालतू बकवास, कर रहे हो?" गोत्से ने यह सब सुना तो गुस्से से उसका चेहरा लाल हो गया। वह सन्त को बुरा-भला कहने लगा और उसकी साधना को ढोंग बताकर उस अपमानित करने लगा। सन्त वहां से उठकर अपने काम मे लग गया। गोत्से का गुस्सा आसमान पर चढ़ गया। उसकी आंखो से खून बरसने लगा। सन्त लौटकर उसके पास आया और शान्त भाव से बोला—"महोदय! अहं इसी का नाम है।" गोत्से की आखे शर्म से झुक गई। वह मौन होकर सन्त के चरणों मे गिर पड़ा।

मनोविज्ञान के अनुसार 'अहं' मनुष्य की मौलिक वृत्ति है। ज्ञान, ऐश्वर्य, परिवार, सौदर्न्य आदि किसी भी बात पर व्यक्ति अभिमान कर सकता है। समाज में कुछ ऐसे निमित्त मिल जाते हैं, जिनके द्वारा अहं पुष्ट होता है तो कुछ ऐसे निमित्त भी होते हैं जो अहं को आहत कर देते हैं। अहं आहत होने पर भी व्यक्ति शान्त रहे, यह स्वाभाविक घटना है। जीवन का सामान्य क्रम है—'शठे शाठ्यं समाचरेत्', जैसे को तैसा उन सब लोगो का स्वीकृत सूत्र है, जो लौकिक मूल्यों को आधार मानकर चलते है। प्रतिशोध का बीज अहं की जमीन पर ही अपनी जड़े फैला है। अहं की जमीन जितनी उर्वर होती है, प्रतिशोध की भावना उतनी अधिक फलती-फूलती है। एक की प्रतिशोध भावना दूसरे मे संक्रान्त है और उसका आगे से आगे विस्तार होता रहता है।

नदी का प्रवाह उभयगामी होता है—अनुस्रोतगाती और प्रतिस्रोतगामी। अनुस्रोतगामिता का अर्थ है—प्रवाह के साथ बहना। प्रवाह से विपरीत-दिशा में आगे बढ़ने का नाम है प्रतिस्रोतगामिता। अनुस्रोत में बहना सरल है। क्योंकि उसके लिए व्यक्ति को कुछ नया करने की जरूरत नहीं रहती। सब लोग जिस दिशा में चलते हैं, उसी दिशा में चलने के लिए न तो रास्ता पूछने की जरूरत है और न ही एकाकीपन के भय से आक्रान्त होने की जरूरत है किन्तु जिस दिशा की ओर कोई भी नहीं बढ़ता है, उस दिशा में आगे बढने के लिए अभय और पराक्रम की अपेक्षा रहती है।

कोई व्यक्ति किसी के प्रति अकारण या सकारण क्रोध करता है, गालियां देता है, दोषारोपण करता है, ऐसी स्थिति मे मन मे उबाल आ जाए या प्रतिशोध की भावना जन्म ले, यह स्वाभाविक है। पर साधक के लिए ऐसा करना उचित नहीं है। साधना का पथ स्वीकार करने के बाद भी वह स्वयं को साधारण जन से ऊपर न उठा सके तो उसे साधना का लाभ क्या मिला। गाली सुनकर गाली देने की वृत्ति को नियत्रित करने के लिए उत्तराध्ययन सूत्र (२/२४) में एक सशक्त आलम्बन बताया गया है—'सरिसो होइ बालाण'। गाली का उत्तर गाली से देने वाला साधक अज्ञानी व्यक्ति के समान हो जाता है। उसमे और अज्ञानी में कोई भेदरेखा नहीं रह पाती। इस तथ्य को एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है—

एक मुनि तपस्वी थे। तपस्या से प्रभावित होकर एक देव उनकी सेवा करने लगा। वह अधिक समय मुनि के साथ रहता था और मुनि के हर निर्देश का पालन करता था। एक बार मुनि का किसी व्यक्ति से झगडा हो गया। झगड़े के समय मुनि और वह व्यक्ति दोनो ही क्रोध में आ गए। मुनि कृशकाय थे और वह व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट था। उसने मुनि को पछाड दिया। मुनि ने देव का स्मरण किया, पर वह नहीं आया।

रात्रि के समय देव वन्दन करने के लिए आया। मुनि मौन रहे। देव ने पूछा—'मेरा कोई अपराध हुआ है?' मुनि बोले—'आज मध्याह्न मे एक दुष्ट व्यक्ति ने मेरे साथ दुर्व्यवहार किया। मैंने तुमको याद किया। तुम न आए और न तुमने उस दुष्ट व्यक्ति को डांटा।' देव विनम्रता से

वोला—'भंते। मैं आया था, पर यह पहचान नहीं सका कि वह दुष्ट व्यक्ति कौन था और आप कौन थे? उस समय मुझे दोनों ही एक जैसे लग रहे थे।'

आवेश के क्षण बडे से बड़े साधक को भी अपनी साधना से फिसलने के लिए विवश कर देते हैं। एक क्षण की फिसलन उसे मूढ एवं अज्ञानी व्यक्ति की तुलना मे लाकर खड़ा कर देती है। इसलिए साधक को ऐसे क्षणो से वचने का प्रयास करना चाहिए। ऐसे क्षण उपस्थित होने पर भी जो साधक अन्तर्मुखी रहता है, वह सोचता है—क्या क्रोधाविष्ट व्यक्ति को पराभूत करने का एक ही तरीका है? क्या आक्रोश का जवाव शान्ति या मैत्री नही हो सकता? इस उपाय से सामने वाला व्यक्ति बदले या नही, मेरी अपनी शान्ति और समाधि तो खण्डित नहीं होगी। जो व्यक्ति आक्रोश करता है, वह पराधीन है, मूर्च्छित है। मै तो पूरी तरह से जागरूक हूं। मुझे इसकी बराबरी क्यों करनी चाहिए?

जिस व्यक्ति की पाचन-शक्ति ठीक नहीं होती, वह भोजन के बाद वमन कर सकता है। वमन को देखकर वमन करने वाला भी उस जैसा ही होता है। जिनकी पाचन-शक्ति अच्छी होती है, वे कभी वमन को देखकर वमन नहीं करते।

पूज्य गुरुदेव कालूगणी रतलाम पधारे। वहां उनका भयंकर विरोध हुआ। उनके विरोध मे पैंफलेट छपाकर बाटे गए। कालूगणी ने उनका कोई प्रतिवाद नहीं किया। रतलाम-प्रवास के चौथे दिन कुछ जैन विद्वान आए। कालूगणी ने पूछा—'आप लोग इतने विलम्ब से कैसे आए?' विद्वान बोले—'हमने प्रतीक्षा-प्रतीक्षा में तीन दिन विता दिए।' कालूगणी ने फिर पूछा—'प्रतीक्षा कैसी? क्या आप हमारी ओर से आमंत्रण की प्रतीक्षा कर रहे थे?' विद्वानो ने उत्तर दिया—'आपके आमंत्रण की क्या प्रतीक्षा? हम तो यह देख रहे थे कि रतलाम के लोग आपका इतना विरोध करते है, आप इसका क्या उत्तर देते है? पहले दिन आपकी ओर से कुछ नही हुआ तो हमने सोचा—आज तो आए ही है। यहां के वातावरण को समझकर कुछ उत्तर देंगे। पर दूसरा दिन और तीसरा दिन भी वीत गया। आपकी ओर से ऐसा एक वाक्य भी पढ़ने और सुनने को नहीं मिला, तव हम अपने आपको रोक नही सके। ऐसे विरोध में इतनी [illegible]!'

दिन यो ही खो दिए। काश! आपकी इस नीति से हम वाकिफ होते।' विद्वानों की पूरी बात सुनकर पूज्य कालूगणी बोले—'पण्डितजी! हमें अपने गुरुजनों से बोध-पाठ मिला है कि वमन को देखकर वमन नहीं करना चाहिए। हमारे साथ कोई कैसा ही सलूक करे, हम उसके साथ वैसा व्यवहार नहीं कर सकते।'

इन उदाहरणो से साधक को प्रेरणा मिलती है कि वह बुरे के साथ बुरा और भले के साथ भला करने की नीति को छोड़कर अपनी ओर से किसी के प्रति दुर्भावना न लाने की नीति अपनाए। इसी नीति के सहारे वह स्वयं को अज्ञानी लोगों की पक्ति से अलग करके अपनी छवि को उज्ज्वल बनाकर रख सकता है।

अध्यात्म की यात्रा : प्रासंगिक उपलब्धियां

इस संसार में अर्हता और महत्ता का मानदण्ड स्थूलता या सूक्ष्मता नही, तेजस्विता और शक्ति-सम्पन्नता है। शक्ति एक माध्यम है विकास की पगडंडियों को मापने का। शक्तिहीन व्यक्ति कितना ही महत्त्वपूर्ण हो, वह स्वयं को प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। मनुष्य की तो बात ही क्या, जड़ चेतन सभी तत्त्वों में शक्ति की पूजा होती है। इस बात से प्रेरित होकर एक संस्कृत कवि ने लिखा है—

> हस्तीस्थूलवपुः स चाकुशवशः किं हस्तिमात्रोऽकुशः?
> दीपे प्रज्वलिते विनश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः?
> वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरिः?
> तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः।।

हाथी बहुत मोटा होता है, पर वह अंकुश के वश मे रहता है। क्या हाथी अंकुश जितना ही है?

दीये के जलते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, क्या अन्धकार दीपक जितना ही है?

वज्र के आघातो से पहाड़ भी टूटकर गिर पडते है, क्या पहाड वज्र जितने ही होते है?

इन तीनो प्रश्नों का एक ही उत्तर है—स्थूल होने से कुछ नही होता, जिसके पास तेज होता है, शक्ति होती है, वही बलवान होता है।

भारतवर्ष की सस्कृति में शक्ति को देवी अर्हता प्राप्त है मंत्र की साधना करने वाले साधक शक्ति का आवाहन करते है और उसके द्वारा कठिन से कठिन काम मे सफलता प्राप्त हो जाती है, ऐसा उनका विश्वास है।

शक्ति दो प्रकार की होती है—पाशविक और मानवीय। पाशविक शक्ति से काम तो होता है, पर उसमें विवेक-चेतना लुप्त हो जाती है। कुछ व्यक्ति पाशविक से भी आगे, राक्षसी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी शक्तियों के प्रति हमारे मन मे कोई आकषर्ण नहीं है। जिन शक्तियों का प्रयोग करते समय मनुष्य पर पशुता या राक्षसीपन सवार हो जाए, उन शक्तियों के उपयोग से मानवजाति का हित-सम्पादन हो सकता है, यह बात समझ में नहीं आती।

मानवीय शक्ति के दो रूप हैं—चेतना का विकास और चमत्कारों का प्रयोग। चमत्कारों के द्वारा शक्ति का प्रदर्शन होता है, पर यह उसका सही उपयोग नहीं है। चमत्कार को नमस्कार जैसी कहावते प्रसिद्ध हैं। किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में इनका कोई मूल्य नहीं है। जो व्यक्ति चमत्कार के लिए शक्ति का अर्जन करता है और जादूगर या ऐन्द्रजालिक के रूप में उसका प्रयोग करता है, वह सोने के थाल में रेत डालता है, अमृत से पाव धोता है, हाथी पर ईधन का भार ढोता है और दुर्लभ चिन्तामणि फेंककर कौवा उड़ाता है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक साधकों के सामने शक्ति के प्रयोग को लेकर अनेक प्रकार की वर्जनाएं हैं।

शक्ति जड़ पदार्थ में भी होती है और चेतन तत्त्व में भी होती है। जड़ को अपनी शक्ति का बोध नहीं होता। चेतन प्राणी को अपनी शक्ति का बोध हो भी सकता है और नही भी । शक्ति का अक्षय स्रोत आत्मा या चेतना ही है। यह शक्ति हर आत्मवान् के पास होती है। पर उसकी पहचान और जागरण के अभाव मे वह स्वयं को दीन-हीन अनुभव करने लगता है। चेतना के एक-दो दरवाजो को खोल कर भीतर झांकने से ही ज्ञात हो सकता है कि वहां शक्तियों का सघन जाल बिछा हुआ है।

जैन आगमों मे अनेक प्रकार की शक्तियों का वर्णन उपलब्ध है। उन्हें तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—मानसिक, वाचिक और कायिक। ध्यान, तप और भावना—ये तीन शक्ति प्राप्त करने के साधन हैं। इन साध्नों के द्वारा व्यक्ति शक्ति के उस चरम छोर तक पहुंच सकता है, जहां निःशेष शक्तियों का समावेश है। ज्ञान और दर्शन की अनन्त पर्यायो का उद्घाटन, चारित्र की पूर्णता और अन्तहीन शक्तियों का अनावरण करने वाला व्यक्ति वीतराग वन जाता है। उसके वाद कोई

भी शक्ति आवृत नहीं रहती। लौकिक शक्ति के सामने यह घटना भी अपने आप में एक चमत्कार जैसी प्रतीति देती है, पर लोकोत्तर जगत् में यह आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। आत्मोपलब्धि या आत्मानन्द की अनुभूति उसी व्यक्ति को हो सकती है, जो अपनी चिन्मय, आनन्दमय और शक्तिमय आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

प्राचीन काल में जो बातें चमत्कार जैसी प्रतीति देती थीं, आज वे विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में यथार्थता का बोध दे रही है। किसी युग में दूरदर्शन, दूरश्रवण, दूरबोध और पूर्वाभास आदि घटनाएं विस्मयकारक मानी जाती थीं। आज ऐसे उपकरण आविष्कृत हो गए हैं, जो रेडियो तरंगों, रश्मियों तथा रासायनिक द्रव्यों द्वारा आश्चर्य को सहजता में परिणत कर चुके हैं। अतीन्द्रिय तथ्यों की खोज ने विज्ञान को गतिशील वनाया है। विज्ञान की इतनी प्रगति के बावजूद उसका विषय तथ्यों की खोज तक सीमित है। अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि के लिए मनुष्य को अध्यात्म की शरण स्वीकार करनी होगी।

अध्यात्म का उद्देश्य है—अतीन्द्रिय चेतना का विकास। चेतना का संपूर्ण विकास उसकी मंजिल है। इसके मध्यवर्ती पडावों पर साधक अनेक प्रकार की शक्तियो को उपलब्ध करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से चेतना के विकास का जो मूल्य है, वह अन्य शक्तियों का नही हो सकता। फिर भी वे साधक की निष्ठा, एकाग्रता और अभ्यास का साक्ष्य तो बनती ही हैं। जैन ग्रन्थो मे ऐसी अनेक लब्धियो या शक्तियो की चर्चा है। यहां उनमें से कुछ शक्तियो का उल्लेख किया जा रहा है।

मानसिक शक्ति

ध्यान, भावना आदि के प्रयोग से मन को इतना एकाग्र वना लेना कि चिन्तन मात्र से किसी पर अनुग्रह और निग्रह किया जा सकता है।

वाचिक शक्ति

मंत्र के जप से तथा सत्य की साधना से वाणी को इतना विशद वना लेना कि मुंह से अनायास निकली हुई प्रत्येक वात उसी रूप में घटित हो जाती है।

कायिक शक्ति

तपस्या के द्वारा शरीर को इतना शक्ति-सम्पन्न बना लेना कि उसके किसी भी अवयव में रोग-निवारण की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इस वर्ग में निम्नलिखित लब्धियों के नाम प्राप्त हैं–

- आमर्ष औषधि–हाथ, पांव आदि के स्पर्श मात्र से रोग को दूर कर लेने की क्षमता।
- खेल औषधि–थूक से रोग निवारण की क्षमता।
- जल्ल औषधि –मेल से रोग-निवारण की क्षमता।
- मल औषधि–कान, दांत, आंख आदि के मल से रोग-निवारण की क्षमता।
- विप्रुट औषधि–मल-मूत्र आदि से रोग-निवारण की क्षमता।
- सर्व औषधि–शरीर के किसी भी अंग-प्रत्यंग आदि से रोग-निवारण की क्षमता।
- आस्यविष–वाणी के द्वारा दूसरे में विष व्याप्त करने की क्षमता।
- दृष्टिविष–दृष्टि के द्वारा दूसरे में विष व्याप्त करने की क्षमता।
- अक्षीण महानस–हाथ के स्पर्शमात्र से भोजन को अखूट बनाने की क्षमता। उपर्युक्त लब्धियो का सम्बन्ध इस दृश्यमान औदारिक शरीर से है। वैक्रिय, तेजस और आहारक शरीर इससे सूक्ष्म होते हैं। इनकी क्षमताएं भी अद्भुत है।
- वैक्रियलब्धि–इस लब्धि के प्रयोग से शरीर को छोटा-बडा, हल्का-भारी बनाया जा सकता है तथा एक साथ अनेक रूपो का निर्माण किया जा सकता है।
- तैजसलब्धि– इस लब्धि के दो रूप हैं–शीत और उष्ण। शीतलब्धि अनुग्रहकारक है और उष्णलब्धि निग्रहकारक। इस निग्रह शक्ति का प्रयोक्ता एक स्थान पर बैठा हुआ साढ़े सोलह देशों को भस्मसात् कर सकता है।
- आहारकलब्धि–यह लब्धि विशिष्ट साधकों को ही उपलब्ध हो सकती है। साधक इस लब्धि का प्रयोग तब करता है, जव उसके सामने समाधान का कोई दूसरा विकल्प नहीं रहता। इस लब्धि के

द्वारा वह एक सवा हाथ के शरीर का निर्माण कर महाविदेश क्षेत्र में विराजमान तीर्थंकर के पास पहुंचता है और अपनी शंका का समाधान पाता है, फिर लौट जाता है।

शक्तियो की इस शृंखला में दूरदर्शन, दूरश्रवण, दूर-आस्वादन, दूरस्पर्शन, दूर-घ्राण आदि लब्धियों का भी उल्लेख है। जंघाचारण, विद्याचारण तथा आकाशगामित्व आदि शक्तियां भी प्राप्त की जा सकती हैं। कठिनाई एक ही है—इनके प्रयोग की पद्धतियो का विस्मरण। आज किसी भी योगी, साधु-संन्यासी अथवा प्रचेता व्यक्ति के पास इन शक्तियो को पाने और संजोकर रखने की सही तकनीक होती तो जैन धर्म शक्ति का पर्यायवाची धर्म बन जाता।

जैन धर्म के प्रणेता तीर्थकर होते है। उन्होंने प्रासंगिक रूप से लब्धियों या शक्तियों का वर्णन किया है, इनके गुण-दोषो की चर्चा की है, पर इसके साथ ही प्राप्त शक्तियो के प्रयोग पर नियंत्रण लगा दिया। उन्होने कहा—साधक का उद्देश्य आत्मोपलब्धि है, लोकरंजन नही। कोई भी साधक सयम की साधना को विस्मृत कर अनुस्रोत से बहेगा, उसकी साधना का तेज मद हो जाएगा। इसी पृष्ठभूमि के आधार पर जैन-धर्म में शक्ति की पूजा या प्रयोग को मान्यता नहीं दी गई है। आत्मा की अनन्त शक्तियो को जानो, समझो, उन पर जमे हुए आवरणो को उतारो तथा अवधिज्ञान एवं मन-पर्यवज्ञान के सहारे यात्रा करते हुए केवलज्ञान के आलोक से आलेकित वनो। केवलज्ञान ऐसी शक्ति है, जो सृष्टि के हर रहस्य को परत दर परत खोलकर रख देती है। इसके द्वारा व्यक्ति सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। कोई भी शक्ति, लब्धि, ऋद्धि अथवा चमत्कार इससे विशिष्ट नही है। सब शक्तियों में शीर्षस्थ शक्ति 'केवलज्ञान' को प्रणाम।

शिक्षा की निष्पत्ति : अखंड व्यक्तित्व का निर्माण

जीवन जीना एक बात है और विशिष्ट जीवन जीना दूसरी बात है। ऐसा जीवन, जो दूसरो के लिए उदाहरण बन सके, विशिष्ट जीवन होता है। ऐसा जीवन, जो विकास की सब संभावनाओं को उजागर कर सकता है, विशिष्ट जीवन होता है। ऐसा जीवन जीया जा सकता है, बशर्ते कि उसे सही ढंग से निर्मित किया जा सके। जीवन का निर्माण करने में अनेक तत्त्वों का योग रहता है। उनमें कुछ तत्त्व हैं—संस्कार, वशानुक्रम, वातावरण, मां का व्यक्तित्व, शिक्षा आदि। इनमें कुछ तत्त्व सहज और कुछ परोक्ष रूप में सक्रिय रहते हैं। पर शिक्षा का प्रयोग सार्थक उद्देश्य के साथ प्रयत्नपूर्वक होता है। वास्तव में वही शिक्षा शिक्षा है, जो जीवन का निर्माण कर सके। शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी जीवन नही बनता है तो शिक्षा की गुणात्मकता के आगे प्रश्नचिन्ह टंग जाता है।

शिक्षा के साथ निर्माण का निश्चित अनुबन्ध है। जहां यह अनुबंध पूरा नहीं होता है, वहां कुछ किन्तु-परन्तु खटकने लगता है। व्यक्ति भोजन करे और भूख न मिटे, यह उसी स्थिति में संभव है, जब भोजन करने वाला भस्मक व्याधि से पीड़ित हो; अन्यथा मात्राभेद हो सकता है, पर भोजन के साथ भूख मिटने की अनिवार्यता है। इसी प्रकार शिक्षा मिले और जीवन का निर्माण न हो, इसमें शिक्षा-पद्धति, शिक्षक या विद्यार्थी की कोई न कोई कमी अवश्य कारण बनती है। शिक्षा-पद्धति त्रुटिपूर्ण या अपूर्ण हो, शिक्षक का चरित्र, निष्ठा और पुरुषार्थ सही न हो अथवा विद्यार्थी में शिक्षा प्राप्त करने की अर्हता न हो, उसी स्थिति में शिक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं होता।

शिक्षा के द्वारा जीवन-निर्माण का अर्थ है विद्यार्थी के सर्वांगीण व्यक्तित्व का निर्माण, अखण्ड व्यक्तित्व का निर्माण। यह मनुष्य की

दुर्बलता है कि वह खण्ड-खण्ड में जीता है। अपने व्यक्तित्व को समग्र रूप से बनाने या संवारने की चिन्ता उसे नहीं होती। उसके सामने अखण्ड व्यक्तित्व वाला कोई आदर्श भी नहीं होता।

ऐसी स्थिति मे वह अपने व्यक्तित्व को खण्डों में बांट लेता है। खंडित व्यक्तित्व हर युग की ऐसी त्रासदी है, जिसे वर्तमान और भावी दो-दो पीढियों को भोगना होता है।

जीवन-निर्माण या व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से कितनी ही ऊंची शिक्षा दी जाए, कितने ही अच्छे व योग्य शिक्षकों का योग मिले, जब तक विद्यार्थी की भूमिका ठीक नही होतीं, समय और श्रम का सही उपयोग नहीं हो सकता। जैन आगम उत्तराध्ययन में विद्यार्थी की अर्हता के कुछ मानदण्ड निर्धारित किए गए हैं। उनके अनुसार शिक्षा के योग्य वह विद्यार्थी होता है, जो–

- हास्य न करे।
- इन्द्रियो और मन को नियंत्रित रखे।
- किसी की गोपनीय बात का प्रकाशन न करे।
- चरित्र से हीन न हो।
- चारित्रिक दोषों से कलुषित न हो।
- रसो मे अति लोलुप न हो।
- क्रोध न करे।
- सत्य मे रत हो।

ज्ञान-मदिर मे प्रवेश करने से पहले ही विद्यार्थी को प्रारभिक संस्कार दिए जाए, यह आवश्यक है। वालक का जीवन गलत संस्कारो से भावित हो जाए, उसके वाद संस्कार-परिवर्तन की बात कठिन हो जाती है। इसलिए पाचीन काल मे वच्चो को गुरुकुलों में रखकर पढ़ाया जाता था। वहां उनको जो शिक्षा दी जाती, उसका आधार केवल पुस्तके नही होती थी। उस समय दी जाने वाली शिक्षा का उद्देश्य केवल जीविका नहीं होता था। जीविका के साथ शिक्षा को जोड़ना ही शिक्षा-नीति का अतिक्रमण है। यह वात विद्यार्थी और शिक्षक दोनो के लिए समान रूप से लागू होती है। शिक्षक यदि शिक्षा को जीविका का साधन मात्र मानता है तो वह विद्यार्थी को पुस्तक पढ़ा सकेगा, पर जीवन-निर्माण की कला नहीं सिखा

सकेगा। इसी प्रकार विद्यार्थी अगर जीविकोपार्जन के उद्देश्य से पढता है तो वह डिग्रियां हासिल कर सकेगा, किन्तु ज्ञान के शिखर पर नहीं चढ सकेगा।

शिक्षा प्राप्त करने का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास अथवा डिग्री पाना ही हो, यह दृष्टिकोण की संकीर्णता है। क्योकि शिक्षा का सम्वन्ध शरीर, मन, बुद्धि और भाव सबके साथ है। एकांगी विकास की तुलना शरीर की उस स्थिति के साथ की जा सकती है, जिसमें सिर बडा हो जाए और हाथ-पांव दुबले-पतले रहे। अथवा हाथ-पांव मोटे हो जाएं और सिर का विकास न हो। शरीर का असंतुलित विकास उसके भोंडेपन को प्रदर्शित करता है, ऐसी हालत में व्यक्तित्व का असंतुलित विकास उसके भीतरी भोंड़ेपन को अभिव्यक्ति कैसे नहीं देगा?

जीवन के समग्र विकास की दृष्टि से शिक्षा को रचनात्मक मोड देने के लिए आवश्यक है कि निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए। विशिष्ट प्रशिक्षण के क्रम में कुछ महत्त्वपूर्ण उपक्रम है—

- जीवन-मूल्यों की शिक्षा।
- मानवीय संबंधो की शिक्षा।
- भावानात्मक विकास की शिक्षा।
- सिद्धात और प्रयोग के समन्वय की शिक्षा।

शिक्षा के ये उपक्रम विद्यार्थी में जिज्ञासा, बुभूषा और चिकीर्षा की भावना को जगा सकते हैं। जिज्ञासा का अर्थ है जानने की इच्छा। जव यह इच्छा घनीभूत हो जाती है, तब विद्यार्थी हर बात को वहुत वारीकी के साथ ग्रहण करता है। तत्त्व को जानने-समझने की स्थिति मे परिपाक आने पर व्यक्ति में कुछ होने की भावना जन्म लेती है। इस भावना का नाम है बुभूषा। जो कुछ होना चाहेगा, उसमें कुछ करने की इच्छा जागेगी। कुछ करने की इच्छा जब विशिष्ट क्रियायोग के साथ जुड़ जाती है, तव वह विद्यार्थी को अखण्ड व्यक्तित्व प्रदान कर सकती है। अखण्ड व्यक्तित्व के निर्माण की एक प्रायोगिक प्रक्रिया का नाम है जीवन-विज्ञान। जीवन-विज्ञान जीवन जीने की ऐसी कला है, जो विद्यार्थी के वौद्धिक एवं भावनात्मक विकास में संतुलन लाती है। इस प्रक्रिया में कायोत्सर्ग,

योगासन, शरीरविज्ञान, प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा आदि का क्रमिक अभ्यास कराया जाता है। इस अभ्यास से शरीरगत ग्रन्थियो के स्राव बदलते है, नाड़ीतंत्र संतुलित रहता है और आदतो मे परिवर्तन होता है।

भारत की आजादी के बाद यहां शिक्षा की दृष्टि से कई नये आयाम खुले। उन आयामों से अच्छे-अच्छे डॉक्टर, अभियन्ता, वैज्ञानिक आदि सामने आए पर आत्मवान् व्यक्तियों के निर्माण की प्रक्रिया बहुत शिथिल हो गई। आत्मावान् वह होता है, जो आत्मविद्या में निष्णात बन जाता है। आत्मविद्या पाने का अर्थ है अपनी पहचान से परिचित होना। पहचान किसकी? नाम या रूप की? यह सारी पहचान ऊपर की है। इस पहचान का करने वाला जो अज्ञात तत्त्व है, जो इस शरीर के भीतर है, उस अज्ञात को ज्ञात करने वाला आत्मवान् हो सकता है, विद्यावान हो सकता है।

आत्मा की पहचान का माध्यम है धर्म। ऐसा धर्म जो मानवीय मूल्यो के विकास से जुड़ा हुआ है, जीवन की पवित्रता से जुडा हुआ है और व्यवहार-शुद्धि के साथ जुडा हुआ है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति मे धर्म की शिक्षा को कोई स्थान नही है। शिक्षा मे धर्म का प्रवेश होने से साम्प्रदायिकता उभरने का भय है। यह भय उन लोगों को है, जो धार्मिक कट्टरता और अंधविश्वासो से घिरे हुए है; अन्यथा धर्म की शिक्षा का अर्थ सत्य और अहिंसा की शिक्षा, सहिष्णुता और समन्वय की शिक्षा, भ्रातृत्व और सहयोग की शिक्षा, नैतिकता और उदारता की शिक्षा। ऐसी शिक्षा को कोई भी चिन्तनशील व्यक्ति नकार नहीं सकता। पर जो लोग धर्म के नाम से ही परहेज करते है, वे यदि जीवन-विज्ञान के नाम से एक समग्र और प्रायोगिक शिक्षाक्रम को आगे बढा सकें तो जीवन-निर्माण या अखण्ड व्यक्तित्व के निर्माण की समस्या का स्थायी हल निकल सकता है।

सन्तुलन की समस्या : एक चिन्तनीय प्रश्न

प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने २८ दिसम्बर के एक वक्तव्य मे कहा कि पुलिस कानून के स्थान पर अपराधियों की रक्षा करती है, सरकारी कर्मचारी लोगों की सेवा की जगह गरीबों का शोषण करते है, कर-अधिकारी कर-चोर के सहयोगी दिखते हैं।

इन पंक्तियों मे अस्वस्थ समाज का चित्रण है। चरित्रविहीन समाज कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। पुलिस अच्छी हो, प्रशासन अच्छा हो, कर-अधिकारी अच्छे हों, व्यापारी और उद्योगपति अच्छे हों—यह सबकी मांग है। किन्तु इन आसनों पर बैठने वाले आदमी अच्छे नही तो अच्छाई की मांग पूरी कैसे हो सकेगी, इसलिए विकास को त्वरित गति देने के लिए चरित्र-निर्माण की ओर ध्यान देना तकनीकी प्रगति की ओर ध्यान देने से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

संकल्पशील और समर्पण की शक्ति को जगाए बिना चरित्र का विकास संभव नहीं। हमने समाज को स्वस्थ समाज-रचना का एक संकल्प दिया था। उसकी संपूर्ति के लिए अणुव्रत की आचार-संहिता दी। उसके साथ राष्ट्र के प्रति समर्पण की बात अभी नहीं जुड पायी है। यदि भारतीय नागरिक के मन में भारत की प्रतिष्ठा को सर्वोपरि मूल्य देने की बात बैठ जाए तो स्वस्थ समाज-रचना के संकल्प की पूर्ति मे अपेक्षित सहयोग मिल सकता है।

एक सामाजिक प्राणी अर्थ के महत्त्व को गौण नहीं कर सकता किन्तु उसे सर्वोपरि महत्त्व देना स्वस्थ समाज-रचना मे वहुत वड़ी वाधा है। सर्वोपरि महत्त्व अध्यात्म को दिया जा सकता है। यदि चिन्तन का उत्कर्ष हो तो सर्वोपरि महत्त्व अध्यात्म को दिया जा सकता है। किन्तु सव लोग

उत्कर्ष की उस रेखा तक पहुंच नहीं पाते। फिर दूसरा विकल्प है राष्ट्र। राष्ट्र को सर्वोपरि महत्त्व देने का अर्थ चरित्र-निर्माण के लिए एक प्रेरणा-स्तंभ स्थापित करना हो सकता है। जिस कार्य से राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध होती है, वह कार्य न करने का संकल्प स्वस्थ समाज-रचना का संकल्प वन सकता है।

स्वतंत्रता की लंवी अवधि के बाद भी भारतीय विद्यार्थी में न तो राष्ट्रीय प्रेम का विकास हुआ है और न ही स्वस्थ समाज-रचना का संकल्प जागा है, वह क्यो? त्रुटि कहां है? क्या शिक्षा-प्रणाली केवल वौद्धिक और तकनीकी विकास के लिए ही है? चरित्र-विकास के बिना कोरा वौद्धिक विकास क्या कल्याणकारी हो सकता है? यह एक विमर्श विन्दु है। यहां ठहरकर हमें पुनर्विचार करना चाहिए।

हमने अणुव्रत के माध्यम से संकल्प जगाने का प्रयत्न किया है किन्तु सकल्प को जगाना चरित्र-विकास की दिशा मे पहला चरण है। उसकी पूर्ति के लिए अगले चरणों की हम उपेक्षा नही कर सकते। सकल्प की पूर्ति के लिए अणुव्रत के साथ प्रेक्षाध्यान की कड़ी जोडी गई। आत्मनिरीक्षण और अभ्यास के द्वारा सकल्प को सिद्ध किया जा सकता है। भावात्मक विकास चरित्र-विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उसकी सिद्धि अभ्यास के द्वारा ही हो सकती है। हमारी दृष्टि में सिद्धान्त और प्रयोग दोनो का योग अत्यन्त अनिवार्य है। भारतीय जीवनधारा में कुछ एसा घटित हुआ कि सिद्धान्त की पकड रह गई, अभ्यास छूट गया। फलतः वौद्धिक और चारित्रिक पक्ष मे संतुलन नहीं रहा। यह असंतुलन ही आज की बडी समस्या है। पूरा राष्ट्र इसी समस्या से आक्रान्त है।

जीवन-विज्ञान बौद्धिक विकास के साथ चारित्रिक विकास का एक प्रयोग है। इस प्रयोग पद्धति द्वारा हृदय-परिवर्तन या भावानात्मक परिवर्तन किया जा सकता है। हम केवल नियंत्रण के आधार पर लोकतंत्र को प्रभावी नही वना सकते। लोकतंत्र का हृदय है—व्यक्ति की स्वतंत्रता। वैयक्तिक स्वतत्रता का मूल मंत्र है—आत्मानुशासन। उसका विकास हृदय-परिवर्तन के विना संभव नहीं है। इसलिए हमें शिक्षा के साथ भावानात्मक विकास की अभ्यास पद्धति को जोड़ना ही होगा। यह निर्विकल्प विकल्प है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

सन्तुलन की समस्या : एक चिन्तनीय प्रश्न

प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने २८ दिसम्बर के एक वक्तव्य मे कहा कि पुलिस कानून के स्थान पर अपराधियों की रक्षा करती है, सरकारी कर्मचारी लोगो की सेवा की जगह गरीबो का शोषण करते है, कर-अधिकारी कर-चोर के सहयोगी दिखते हैं।

इन पक्तियो मे अस्वस्थ समाज का चित्रण है। चरित्रविहीन समाज कभी स्वस्थ नही हो सकता। पुलिस अच्छी हो, प्रशासन अच्छा हो, कर-अधिकारी अच्छे हों, व्यापारी और उद्योगपति अच्छे हों—यह सवकी मांग है। किन्तु इन आसनो पर बैठने वाले आदमी अच्छे नहीं तो अच्छाई की मांग पूरी कैसे हो सकेगी, इसलिए विकास को त्वरित गति देने के लिए चरित्र-निर्माण की ओर ध्यान देना तकनीकी प्रगति की ओर ध्यान देने से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

सकल्पशील और समर्पण की शक्ति को जगाए बिना चरित्र का विकास संभव नहीं। हमने समाज को स्वस्थ समाज-रचना का एक सकल्प दिया था। उसकी संपूर्ति के लिए अणुव्रत की आचार-सहिता दी। उसके साथ राष्ट्र के प्रति समर्पण की बात अभी नही जुड पायी है। यदि भारतीय नागरिक के मन में भारत की प्रतिष्ठा को सर्वोपरि मूल्य देने की बात बैठ जाए तो स्वस्थ समाज-रचना के सकल्प की पूर्ति में अपेक्षित सहयोग मिल सकता है।

एक सामाजिक प्राणी अर्थ के महत्त्व को गौण नही कर सकता किन्तु उसे सर्वोपरि महत्त्व देना स्वस्थ समाज-रचना मे वहुत वड़ी बाधा है। सर्वोपरि महत्त्व अध्यात्म को दिया जा सकता है। यदि चिन्तन का उत्कर्प हो तो सर्वोपरि महत्त्व अध्यात्म को दिया जा सकता है। किन्तु सव लोग

उत्कर्ष की उस रेखा तक पहुंच नहीं पाते। फिर दूसरा विकल्प है राष्ट्र। राष्ट्र को सर्वोपरि महत्त्व देने का अर्थ चरित्र-निर्माण के लिए एक प्रेरणा-स्तंभ स्थापित करना हो सकता है। जिस कार्य से राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध होती है, वह कार्य न करने का संकल्प स्वस्थ समाज-रचना का सकल्प वन सकता है।

स्वतंत्रता की लंवी अवधि के वाद भी भारतीय विद्यार्थी मे न तो राष्ट्रीय प्रेम का विकास हुआ है और न ही स्वस्थ समाज-रचना का संकल्प जागा है, वह क्यो? त्रुटि कहां है? क्या शिक्षा-प्रणाली केवल वौद्धिक और तकनीकी विकास के लिए ही है? चरित्र-विकास के विना कोरा वौद्धिक विकास क्या कल्याणकारी हो सकता है? यह एक विमर्श विन्दु है। यहां ठहरकर हमे पुनर्विचार करना चाहिए।

हमने अणुव्रत के माध्यम से संकल्प जगाने का प्रयत्न किया है किन्तु सकल्प को जगाना चरित्र-विकास की दिशा में पहला चरण है। उसकी पूर्ति के लिए अगले चरणों की हम उपेक्षा नही कर सकते। सकल्प की पूर्ति के लिए अणुव्रत के साथ प्रेक्षाध्यान की कडी जोडी गई। आत्मनिरीक्षण और अभ्यास के द्वारा सकल्प को सिद्ध किया जा सकता है। भावात्मक विकास चरित्र-विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उसकी सिद्धि अभ्यास के द्वारा ही हो सकती है। हमारी दृष्टि मे सिद्धान्त और प्रयोग दोनो का योग अत्यन्त अनिवार्य है। भारतीय जीवनधारा मे कुछ ऐसा घटित हुआ कि सिद्धान्त की पकड़ रह गई, अभ्यास छूट गया। फलत. वौद्धिक और चारित्रिक पक्ष में सतुलन नही रहा। यह असंतुलन ही आज की वड़ी समस्या है। पूरा राष्ट्र इसी समस्या से आक्रान्त है।

जीवन-विज्ञान वौद्धिक विकास के साथ चारित्रिक विकास का एक प्रयोग है। इस प्रयोग पद्धति द्वारा हृदय-परिवर्तन या भावनात्मक परिवर्तन किया जा सकता है। हम केवल नियंत्रण के आधार पर लोकतन्त्र को प्रभावी नही वना सकते। लोकतन्त्र का हृदय है—व्यक्ति की स्वतन्त्रता। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मूल मंत्र है—आत्मानुशासन। उसका [illegible] हृदय-परिवर्तन के विना संभव नहीं है। इसलिए हमें [illegible] भावनात्मक विकास की अभ्यास पद्धति को जोड़ना निर्विकल्प विकल्प है। इसकी उपेक्षा नही की जा सकती।

आज शिक्षा का विस्तार हो रहा है। प्रारम्भिक शिक्षा का विस्तार अपेक्षित भी होता है। किन्तु उच्च शिक्षा के विस्तार की बात समस्या से मुक्त नहीं मानी जा सकती। उच्च शिक्षा के क्षेत्र मे विस्तार की अपेक्षा गुणात्मकता का अधिक मूल्य है। जिस शिक्षा से मस्तिष्क प्रशिक्षित नही होता, वह शिक्षा सामुदायिक जीवन के लिए वरदान नही बनती, कभी-कभी अभिशाप बन जाती है।

आत्मनिर्भरता शिक्षा की फलश्रुति है। किन्तु यह सापेक्ष बात है। प्रत्येक व्यक्ति आत्मनिर्भरता या स्वावलवन के साथ सामाजिक सापेक्षता को छोड़ नही सकता। इस स्थिति मे समाज के प्रति उसका एक विशेष कर्तव्य होता है। उस कर्तव्य का निर्वाह चारित्रिक बल और नैतिक व्यवहार के द्वारा ही किया जा सकता है। यदि शिक्षा के द्वारा चारित्रिक और नैतिक विकास नही होता है तो उसका गुणात्मक मूल्य कम हो जाता है। वर्तमान पाठ्यक्रम में अन्यान्य जानकारियों के साथ चारित्रिक और नैतिकता सबधी जानकारी नही के बराबर है और उसके लिए अभ्यास का क्रम तो है ही नही। इस दशा मे सामाजिक न्याय और समाजव्यापी नैतिक व्यवहार की कल्पना नहीं की जा सकती।

हिसा लोकतत्र के लिए बहुत बड़ा खतरा है। जातीय और साप्रदायिक विद्वेष उसी के परिणाम है। अहिंसा का विकास करना सब दृष्टियो से निहायत जरूरी है। वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार हिसा और आक्रामक वृत्ति के पीछे एक विशेष प्रकार का रसायन काम करता है। यदि अभ्यास पद्धति के द्वारा रासायनिक संतुलन बना सकें तो निश्चित ही हिंसा की समस्या को सुलझाया जा सकता है। स्वस्थ और शातिपूर्ण जीवन के लिए अहिंसा आज की अनिवार्यता है। इस दिशा में जीवन विज्ञान के प्रयोग बहुत उपयोगी हो सकते है। इसलिए इस विषय पर शिक्षाविद् और शिक्षा के अधिकारी गभीरतापूर्वक चिंतन करेंगे।

समाधान के दर्पण में देश की प्रमुख समस्याएं

जहा जीवन है, वहा समस्या है। जहां समस्या है, वहा समाधान भी है। समस्या का सर्जक मनुष्य है तो उसका समाधान भी मनुष्य के मस्तिष्क मे है। जिस समाज और देश मे इस प्रकार की आस्था जीवित है, वह कभी निराश होकर नही बेठता। जिस देश की आखो मे समस्याए ही समस्याए रहती है, जिसको समाधान की राह दिखाई नही देती, वहा अनास्था का स्वर मुखर होता है। अनास्था ऐसा कीट है, जो देश की चेतना को भीतर ही भीतर खोखला वना देता है। ऐसे देश मे रहने वाले लोग इस वात को भूल जाते है जो चढते है, उनको उतरना भी पडता है। चढाव और उतार के भी अपने सिद्धान्त है। सिद्धान्तहीनता की राजनीति न तो व्यक्ति को सही रूप मे समस्याओ को देखने की दृष्टि देती है और न ही उनका समुचित समाधान दे पाती है। हमारा देश इस समय ऐसी ही स्थिति का सामना कर रहा है।

भारतवर्ष की आजादी मे राष्ट्रपिता महात्मा गाधी का योगदान अविस्मरणीय है। गांधीजी अपने देश को राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ सास्कृतिक गरिमा भी देना चाहते थे। उनके अपने सिद्धान्त थे, अपने आदर्श थे। वे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सत्ता को विकेन्द्रित रखने के पक्ष मे थे। आज सत्ता या शक्ति केन्द्रित हो गई है। उसके केन्द्रीयकरण मे गांधीजी को जिन समस्याओं का आभास हुआ था, वे आक्रामक मुद्रा मे खडी हो गई है। एक ओर देश को स्थिर, निर्द्वन्द्व और उज्ज्वल भविष्य देने के वादे, दूसरी ओर समस्याओं का [illegible]। पता नहीं सत्ता और सम्पदा के शीर्ष पर बैठे व्यक्तियों को उन समस्याओं से कितना सरोकार है, जिनसे जनता का जीवन [illegible] है। ऐसी स्थिति मे देश की समस्याओं तथा उनके समाधान की [illegible]

में एक तटस्थ विश्लेषण की अपेक्षा है।

आर्थिक विषमता

आज की सबसे बड़ी समस्या है—आर्थिक विषमता। इससे सपूर्ण मानवजाति प्रभावित है। संसार भर के कुछ हजार व्यक्ति बहुत अधिक अमीर हैं। उनके पास अरबों-खरबों की संपत्ति है। कुछ लाख या करोड व्यक्ति ऐसे हैं, जो करोड़पति हैं। वे अच्छी स्थिति में हैं। जनता का बहुत बड़ा भाग आर्थिक विपन्नता का जीवन जी रहा है। उसका एक भाग ऐसा भी है, जिसके पास दो जून खाने को रोटी नहीं है, पहनने के लिए कपड़ा नहीं है, रहने के लिए मकान नहीं है। शिक्षा और चिकित्सा के साधन तो उनके पास होंगे भी कहा से? एक ओर जनता के दुःख-दर्द से बेखबर विलासिता मे आकंठ डूबे हुए लोग, दूसरी ओर जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से भी वंचित अभावों से घिरे लोग। आर्थिक विषमता की इस धरती पर समस्याओं के नये झाड-झंखाड़ उगते और बढ़ते जा रहे हैं।

इस युग में संचार के साधन इतने विकसित हो गए कि हर व्यक्ति को एक-दूसरे की स्थिति ज्ञात रहती है। लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था और बढ़ती हुई शिक्षा ने भी आपस की दूरियां कम कर दी। देहातों में रहने वाले लोगों का नजरिया भी बदल रहा है। भाग्यवादी अवधारणाएं बदल रही है। एक समय था जब लोग सत्ता और सम्पदा को भाग्य का फल मानकर मौन रहते थे। अब वे ही उसे शोषण के साथ जोड़ रहे है। शोषण का प्रतिकार करने के लिए उनमें क्रूरता और उग्रता पनप गई है। आज जहां कहीं हिंसा या आतंकवाद का वातावरण है, उसके पीछे सत्ता और सम्पत्ति हथियाने का मनोभाव सक्रिय है।

वोटों की राजनीति

लोकतांत्रिक शासन-पद्धति की बुनियाद है चुनाव। लोकतंत्र मे चुनाव की जो स्वस्थ प्रक्रिया है, उसे विस्मृत कर अलोकतांत्रिक साधनों का उपयोग किया जाए तो लोकतंत्र का भविष्य सुरक्षित कैसे रहेगा? कोरे चुनावी नारों और आकर्षक घोषणा-पत्रों से लोकतंत्र आगे नहीं बढ़ता। वह मूल्यों और आदर्शों की प्रतिष्ठा के आधार पर आगे बढ़ता है। चुनाव में धन, जाति

और सम्प्रदाय—इन तीनो को बल मिल रहा है। इससे आगे यह भी कहा जा सकता है कि चुनाव के ये ही प्रमुख घटक है इनके आधार पर चुनाव जीतने वाले लोग विजयी होकर इनकी अपेक्षाओ को पूरा करने मे लग जाते है। सम्पत्ति, जाति और सम्प्रदाय चुनाव जीतने मे सहायक बनते हैं। फिर सत्ता में आने वाले लोगो की सहायता से ये अपने प्रयोजन सिद्ध करते है। यह एक ऐसा चक्र बन जाता है, जो कभी टूटता नही है। इस चक्रव्यूह मे आम जनता की समस्याओ को समझने का अवसर ही कब मिलता है? ऐसे जन-प्रतिनिधि निर्वाचित होकर भी जनता के हितों की सुरक्षा कैसे कर सकेगे? सचमुच आज चुनाव-पद्धति के आगे एक प्रश्न चिह्न लगा हुआ है।

अस्पृश्यता

हमारे देश के सविधान मे छुआछूत को दण्डनीय अपराध माना गया है। सविधान लागू होने के चार दशक बाद भी अस्पृश्यता के सस्कार ज्यो के त्यों जीवित है, यह कैसी विडम्बना है? जब हर व्यक्ति को अपने ढग से जीने का और व्यक्तित्व-विकास का अधिकार है, तब जाति विशेष के प्रति घृणा फैलाना या अत्याचार करना, क्या उस अधिकार का हनन नही है? सवर्ण समाज द्वारा हरिजनो का उत्पीडन और शोषण होना एक लज्जाजनक हादसा है। हरिजनो की सामूहिक हत्या, हरिजन महिलाओं के साथ अभद्र व्यवहार और उन्हें तग करने वाली हरकतें, क्या मानवीय दृष्टि से उचित है?

देश मे लगभग पन्द्रह करोड़ हरिजन है। उनका सबध हिन्दू समाज के साथ है। उनकी जो दुर्दशा हो रही है, उसका मुख्य कारण है धर्मान्धता। ये धर्मान्ध लोग कभी उनके मन्दिर-प्रवेश पर रोक लगाते है और कभी अन्य बहाना बनाकर अकारण ही उन्हे सताते है। क्या ऐसा कर उन्हें धर्म-परिवर्तन की ओर धकेला नही जा रहा है? क्या ऐसा होना समाज के हित मे होगा? कुछ धर्मगुरु भी दकुनियादी बातों को प्रश्रय देते है, जातिवाद का विष घोलते है और हिन्दू समाज को आपस मे लड़ाकर अपनी अहंवादी मनोवृत्ति का परिचय देते है।

मादक पदार्थ

नशा आज की युवा पीढ़ी का फैशन है। स्कूल-कॉलेज में पढ़ने वाले विद्यार्थी द्रुत गति से नशे के शिकार होते जा रहे हैं। सिगरेट, शराब, हेरोइन, स्मैक, चरस, गांजा, अफीम, मार्फिया आदि न जाने कितनी चीजे हैं, जो एक समूची पीढ़ी को पतन के गर्त में धकेल रही हैं। कुछ चीजे तो इतनी नशीली और घातक हैं, जो मौत को खुला निमंत्रण देने वाली हैं। प्रश्न उठता है कि एक प्रवुद्ध और चिन्तनशील पीढ़ी इसकी गिरफ्त मे कैसे आ जाती है? मादक पदार्थों के सेवन में हेतुभूत कारणों का सर्वे करने के बाद जो निष्कर्ष निकले हैं, उनमें एक भी कारण ऐसा नहीं है, जो नशे की अपरिहार्यता को प्रमाणित करता हो। नशेबाज मित्रों का संपर्क देखें, क्या होता है? यह उत्सुकता, अनुकरण निराशा, तनाव, असफलता, अवसाद से छुटकारा पाने का अहसास आदि ऐसे कारण हैं, जो व्यक्ति को नशीली वस्तुओ के प्रयोग की प्रेरणा देने वाले हैं, जवकि क्षणिक ताजगी या विस्मृति के अतिरिक्त इनके परिणाम अत्यन्त भयावह रहे हैं।

मादक पदार्थों के सेवन से एक बार नाड़ी संस्थान की शिथिलता का आभास होता है। उससे व्यक्ति को राहत का अनुभव होता होगा। पर कुछ दिन इनका प्रयोग करने के बाद ये चीजें वेअसर होती जाती हैं। ऐसी स्थिति में अधिक तेज नशीले पदार्थों का उपयोग किया जाता है, जो एक गंभीर सकट बन रहा है। नशे की यह प्रवृत्ति व्यक्ति को आर्थिक और यौन अपराधों की ओर अग्रसर करती है। शारीरिक और मानसिक असंतुलन का खतरा तो वहां पग-पग पर देखा जा सकता है।

शिक्षा-नीति

भारत के सामने जो समस्याएं सिर उठाए खड़ी हैं, उनमें एक ज्वलंत समस्या है शिक्षानीति। समाज और राष्ट्र के विकास का मूलभूत आधार है शिक्षा। शिक्षा ही जव मूल्यहीन हो जाए तो मूल्यो की संस्कृति फलेगी किस वल पर? प्रत्येक समाज या देश का अपना शिक्षातंत्र होता है। शिक्षा को संवंध जीवन-मूल्यों से न जुडकर साक्षरता से जुड़ता है तो विद्यार्थी का

बौद्धिक विकास तो हो सकता है पर न तो उसकी रचनात्मक ऊर्जा को नयी दिशा मिल सकती है और न ही वह विपमतावादी व्यवस्थाओं मे परिवर्तन की बात सोच सकता है। अध्यापक और विद्यार्थी मे तादात्म्य स्थापित करने के लिए इस सवादात्मक शैली का प्रयोग वहुत अपेक्षित लगता है।

शिक्षा में पुस्तकीय ज्ञान आवश्यक है, पर उससे मात्र बौद्धिक विकास होता है। जव तक विद्यार्थी का मस्तिष्क प्रशिक्षित नही होता, उसकी करुणा और सवेदनशीलता कम होती जाती है। सवेदनशीलता की स्थिति मे उदारता, सहिष्णुता संयम आदि मानवीय गुणों का विकास नही हो पाता। उसे कठोर जीवन जीने का अभ्यास भी नही होता। कठोर जीवन जीने का अभ्यास न हो अथवा उसमें आस्था न हो तो व्यक्ति के असतुलन का वाध वहुत जल्दी टूट जाता है और उसके पग अपराधो की ओर वढने लगते है।

शिक्षा के व्यवस्था पक्ष का जहा तक प्रश्न है, उसमे सुधार की ओर ध्यान दिया जा रहा है। स्कूल और कॉलेज मे वडे-वडे भवन, फर्नीचर, खेल के मैदान, पाठ्य-पुस्तके और प्रशिक्षित अध्यापक ये सव है। पर शिक्षा मे जीवन-मूल्यो की ओर ध्यान वहुत कम है। इसी कारण विद्यार्थी दिशाहीन हो रहे है। किसी भी देश का भविष्य उसके स्वर्णिम अतीत पर निर्भर नही होता। भविष्य का सवध है स्वस्थ, समुन्नत और प्रशिक्षित युवा पीढी से। यह पीढी जव तक सक्षम नही होती, नये निर्माण की वात भी नही सोची जा सकती। जिस देश मे विद्यार्थियों को राजनीति का मोहरा वनाकर गुमराह किया जाता है, उनकी शिक्षा मे व्यवधान उपस्थित किया जाता है, उस देश का भविष्य कैसा होगा, कल्पना नही की जा सकती।

ब्राजील के शिक्षाशास्त्री पालो फ्रेरे के अनुसार शिक्षा में सूचना, विवरण और वृतान्त ही पर्याप्त नही है, सवाद और सप्रेषण आवश्यक है। अन्यथा विद्यार्थी यंत्र वनता है और उसकी रचनात्मक ऊर्जा समाप्त हो जाती है। अध्यापक और विद्यार्थी में तादात्म्य स्थापित करने के लिए इस सवादात्मक शैली का प्रयोग वहुत अपेक्षित लगता है।

पर्यावरण

पर्यावरण की समस्या आज जिस गति से वढ़ रही है, इस पृथ्वी पर प्राणियों का जीवन मुश्किल हो सकता है। एक ओर प्रकृति का असीम दोहन, दूसरी ओर पशु-पक्षियों का जीवन-संहार। इसमें मुख्य कारण है मनुष्य की विलासी मनोवृत्ति और व्यावसायिक बुद्धि। वैज्ञानिक लोग चेतावनी दे रहे हैं कि भूमि और जल का दोहन जिस रूप में हो रहा है, आने वाले वर्षों में पानी की भयंकर समस्या उत्पन्न हो जाएगी। बड़े शहरों में गन्दी नालियों का पानी साफ कर पीने की परिस्थिति आ जाएगी।

इधर प्रसाधन सामग्री के लिए मासूम और बेजुबान पशु-पक्षियों पर कहर ढाया जा रहा है, उधर हाथीदांत और सींग के लिए हाथियों और गैंडों को मारा जा रहा है। पशु-पक्षियों की हत्या पर रोक नही लगी तो कुछ दुर्लभ प्रजातियों के लोप की संभावना बढ जाएगी। मनुष्य की सुखवादी और सुविधावादी मनोवृत्ति कैसी क्रूरता को जन्म दे रही है। आज आवश्यकता तो इस बात की है कि देश के जंगल तो क्या, एक वृक्ष भी न कटे; वहां वृक्षो के साथ पशु-पक्षी भी कटते जा रहे हैं। क्या मनुष्य इतना संवेदनहीन हो गया है कि न तो उसे किसी की क़राह सुनाई देती है और न किसी का तड़प-तड़पकर दम तोड़ना दिखाई देता है?

पर्यावरण को असंतुलित करने में आणविक अस्त्र-शस्त्रो का भी पूरा हाथ है। इस समय संसार में पचास हजार से भी अधिक परमाणु अस्त्र हैं। प्रसिद्ध अमेरिकी वैज्ञानिक कार्टसैगोन एवं पाल क्रुटजेन ने आगाह किया है कि विश्व की महाशक्तियों के पास एकत्र परमाणु हथियार का एक प्रतिशत भी प्रयोग मे लिया गया तो भयंकर बरबादी होगी। पृथ्वी का अधिकांश भाग हिमयुग की ओर लौट जाएगा। मानव जाति के अस्तित्व को खतरे में डालने वाले अणु-आयुधों से शान्ति और समृद्धि की कल्पना पागलपन से अधिक क्या है?

धर्म और राजनीति

हमारे देश के संविधान में एक शव्द है सेक्युलर। इस शव्द का अर्थ किया

जाता है धर्मनिरपेक्ष । धर्मनिरपेक्षता की नीति अपने आप में एक समस्या है। धर्म का संवध आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यो से है। इनसे निरपेक्ष रहकर कोई भी नीति जनता के हितो को संरक्षण दे सकेगी, यह बात समझ मे ही नही आती। धर्म के नाम पर आज जो हिसा हो रही है, उसका सीधा संवंध पन्थ या संप्रदाय के साथ है। सेक्युलर शब्द की अर्थ-मीमांसा भी पन्थनिरपेक्षता या सम्प्रदाय-निरपेक्षता समीचीन लगती है। इस संवंध मे प्रधानमत्री राजीव गाधी से भी हमारी बात हुई थी। मेरा यह निश्चित अभिमत है कि जब तक सेक्युलर शब्द का अर्थ सही नहीं होगा, आध्यात्मिक और नेतिक मूल्यो की समस्या सुलझ नही पाएगी।

राजनीति और धर्म के पारस्परिक सवध भी आज की चर्चा का मुख्य विन्दु है। कुछ लोग इस बात पर अड़े हुए है कि धर्म को राजनीति से अलग नही किया जा सकता। यह आग्रहपूर्ण चिन्तन है। धर्म के हस्तक्षेप से राजनीति विशुद्ध राजनीति नही रहेगी। इसी प्रकार धर्म में राजनीति का हस्तक्षेप धर्म की विशुद्धि नही रहने देगा। इन दोनो के मिश्रण से एक तीसरी ही नीति का उद्‌भव होगा, जो दोनों पवित्रता पर सदेह पेदा करेगी। धर्म और राजनीति दोनों की स्वतत्र सत्ता स्वीकार किए विना समस्या का समाधान नही निकलेगा।

समाधान की दिशा

समस्या किसी भी क्षेत्र की हो—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक या प्राकृतिक—उन सबका मूल है मानवीय मूल्यो के प्रति आस्थाहीनता। मानवीय मूल्यों को दो भागों में बांटा जा सकता है—नैतिक मूल्य और आध्यात्मिक मूल्य। आज आध्यात्मिक मूल्यों का स्थान साम्प्रदायिक मूल्यो ने ले लिया है और नैतिक मूल्यों के स्थान पर प्रतिष्ठा और [illegible] के तत्व प्रतिष्ठित हो रहे हैं। सार्वजनिक मच पर नैतिकता, न्याय और समता की बात उठाने वाले व्यक्ति भी जब अपने घर मे झाकते हैं तो उन्हें अपना जीवन सिद्धान्तहीनता के पैवन्दो से भरा हुआ मिलता है। ऐसी स्थिति में मच पर भाषण तो दिए जा सकते है पर सिद्धान्तों [illegible] के लिए लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती।

मान्यताओं और लोकतन्त्री व्यवस्थाओं का अपना-अपना [illegible]

साम्यवाद में व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो जाता है और लोकतन्त्र में स्वामित्व-विस्तार की खुली छूट है। ये दोनों ही अतियां है। इस अतिवाद से बचने का एक रास्ता भगवान् महावीर ने सुझाया था। वह रास्ता है इच्छाओं के अल्पीकरण का। इससे असीम लालसा नियन्त्रित होती है और व्यक्तिगत स्वामित्व सर्वथा प्रतिबधित नहीं होता। यह मध्यम मार्ग आर्थिक समस्या का एक समाधान है।

आर्थिक विषमता को कम करने का एक दूसरा तरीका है सविभाग का। उद्योगपति के पास पूंजी होती है। वह अपनी पूंजी का निवेश कर व्यवसाय करता है। उसके व्यवसाय मे सैकडों-हजारों श्रमिक काम करते हैं। चालू परम्परा के अनुसार उनको थोडा-सा पारिश्रमिक मिलता है। शेष संपत्ति का मालिक व्यवसायी होता है। इस परम्परा को बदलकर व्यसाय में श्रमिकों की भागीदारी निश्चित हो जाए तो व्यवसाय जगत् में उभरने वाली हड़ताल आदि समस्याएं नहीं उभरेंगी, विषमता का अनुपात घटेगा और श्रमिकों में संतुष्टि के साथ अपनत्व का भाव बढ़ेगा।

विगत कई वर्षो से चुनाव-सुधार की व्यापक चर्चा सुर्खियों मे है। सरकार और विपक्ष—दोनों ओर से सुधार की बात उठी है पर अब तक सुधार का कोई रास्ता नही मिला है। इसमें आर्थिक, जातीय और साम्प्रदायिक जटिलताएं हैं। चुनाव में प्रत्याशी व्यक्ति को जिस जाति का बहुमत है, उसकी शरण में जाना पडता है। इसमें आर्थिक भ्रष्टाचार से भी बचाव नहीं हो सकता। इसके साथ चरित्रहनन और हत्या की घटनाएं भी बढ़ती जा रही है। इन सबकी रोकथाम के लिए जब तक कोई कारगर उपाय हाथ नहीं लगता, अणुव्रत की चुनाव आचार-सहिता को प्रकाशदीप मानकर एकवारगी समाधान खोजा जा सकता है। अणुव्रत ने मतदाता एवं उम्मीदवार—दोनो वर्गों के लिए आचार-संहिता का निर्धारण किया है।

छुआछूत की समस्या न कानून से मिट सकती है, न उपदेश से। इसके लिए मनुष्य के मन में जमे हुए घृणा के सस्कारो को निरस्त करना होगा, मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करना होगा और समग्र मानवजाति के प्रति सौहार्द का वातावरण निर्मित करना होगा।

विद्यार्थी ~र्ग या युवा पीढ़ी को नशे की लत से मुक्त कराने के लिए भी सेमिनारो या भापण से सफलता नहीं मिलेगी। इसके लिए कुछ

औषधीय और कुछ ध्यान के प्रयोग सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

प्रश्न चाहे शिक्षा-नीति का हो, पर्यावरण का हो या राजनीति और धर्म का हो, केवल राजनीति के पास इनका समाधान नही है, वैसे ही केवल धर्मगुरुओं के पास भी समाधान नही है। व्यवस्था-परिवर्तन और मानसिक परिवर्तन का योग होने से ही समाधान की प्रक्रिया बैठ सकती है। व्यवस्था में सुधार का काम सत्ता के सिंहासन पर बैठे हुए व्यक्तियो का है तथा मानस-परिवर्तन का काम धर्मगुरुओ का है। इनके साथ कुछ तटस्थ बौद्धिक व्यक्तियो का योग होना भी जरूरी है। व्यवस्था धर्म से प्रभावित हो, धर्म और व्यवस्था का योग मिले और बौद्धिक व्यक्ति अनुकूल वातावरण का निर्माण करे—यह त्रिकोणात्मक प्रक्रिया देश की अनेक समस्याओ का स्थायी समाधान खोज सकती है।

ऐसे सुधरेगी भारत में चुनाव की प्रक्रिया

शासन चलाने के लिए दो प्रकार की व्यवस्थाएं प्रचलित हैं—राजतंत्र और जनतंत्र। राजतंत्रीय व्यवस्था में एक व्यक्ति सर्वेसर्वा होता है। शासन का सूत्र उसे विरासत में मिलता है। उसके सामने योग्यता या अयोग्यता का प्रश्न नहीं होता। वहां उत्तराधिकार की परंपरा चलती है।

जनतत्रीय व्यवस्था में अंतिम पंक्ति में खड़ा व्यक्ति भी राष्ट्राध्यक्ष के पद तक पहुंच सकता है, राष्ट्र का प्रथम नागरिक बन सकता है। शर्त एक ही है, जनता उसे स्वीकार करे। जनता की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए चुनाव की व्यवस्था की गई। किसी दल विशेष के प्रतिनिधि को चुनाव में खड़ा होने का जितना अधिकार है, उतना ही अधिकार किसी दल की सदस्यता स्वीकार नहीं करने वाले को है।

ढाई-हजार वर्ष पहले शासन-संचालन की एक अन्य पद्धति प्रचलित थी, जो गणराज्य व्यवस्था कहलाती थी। उस व्यवस्था में अनेक राजा मिलकर शासनसूत्र संभालते थे। किस समय कौन-सी पद्धति प्रभावी रहती है, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किस पद्धति मे सुव्यवस्था रहती है और जनता के हितों की सुरक्षा होती है।

स्वतंत्र भारत में प्रारम्भ से ही लोकतांत्रिक व्यवस्था चल रही है। देश के संविधान में इसी व्यवस्था को मान्य किया गया है। चुनाव लोकतंत्र की अनिवार्य प्रक्रिया है। प्रश्न यह है कि मतदान का आधार क्या हो? लोकतंत्र की व्यवस्था के लिए मतदान का आधार होना चाहिए चरित्रशीलता और गुणवत्ता। जिस व्यक्ति का चरित्र उन्नत हो और नेतृत्व के गुणों की बहुलता हो, वह व्यक्ति सत्ता में आकर राष्ट्रहित या जनहित में कुछ काम कर सकता है। किन्तु जहां मतदान का आधार जातीयता, साम्प्रदायिकता, प्रलोभन आदि वनते हैं, वहां सिद्धान्त ताक पर धरे रह

जाते हैं और भाई-भतीजावाद पनपने लगता है।

जो व्यक्ति पद, प्रतिष्ठा अथवा स्वार्थ की प्रेरणा से चुनाव में खडे होते है, वे जैसे-तैसे चुनाव जीतने का प्रयास करेगे। चुनाव के साथ अर्थ का अनाप-शनाप व्यय इन्ही बिन्दुओ पर किया जाता है। उम्मीदवार के लिए निर्धारित चुनाव-व्यय तो आटे में नमक जितना रह जाता है। जो उम्मीदवार जितना अधिक पैसा बहा सकता है, वह उतने ही अधिक वोट जीत सकता है, इस धारणा के आधार पर पार्टी से अतिरिक्त अन्य स्रोतो से अर्थ खीचा जाता है। ऐसे समय मे आर्थिक सहयोग करने वाले भी अपनी अपेक्षाओं की सूची तैयार करके रख लेते हैं। जब भी काम पडता है, उनकी पहली दस्तक उसी व्यक्ति के दरवाजे पर होती है, जो उसके अर्थ-सहयोग का आभारी है। भविष्य मे आवश्यकता पडने पर अर्थ यही से मिलेगा, यह सोचकर वह भी उसकी उचित-अनुचित हर मांग को पूरा करता जाता है।

यही बात जाति और सम्प्रदाय के साथ जुड़ी हुई है। जब किसी वोटर से पूछा जाता है कि आप वोट किसे देगे? उसका उत्तर जाति या सम्प्रदाय विशेष मे सिमटा हुआ होता है। लोकतंत्र के गले पर छुरी चलाने का सिलसिला यही से शुरू हो जाता है।

चुनाव जीतने का एक माध्यम है प्रचार। प्रचार-कार्यक्रम मे पार्टी की नीतियो का विश्लेषण किया जा सकता है, अपने घोषणापत्र की व्याख्या की जा सकती है, जनहित मे किए जाने वाले कार्यों का ब्योरा दिया जा सकता है। पर विपक्षी उम्मीदवार के चरित्र का हनन, गाली-गलौज, अश्लील शब्दो के प्रयोग और हत्या के षाड्यत्र जैसे जघन्य उपायो को काम मे लेने वाले व्यक्ति सेवा का आदर्श उपस्थित कर सकेंगे, यह सोचा भी नहीं जा सकता। ऐसा माहौल ही राजनीति की छवि बिगाड़ता है।

किसी भी विशेष कार्यक्षेत्र मे प्रवेश करने वाले व्यक्ति को [illegible] [illegible] जाता है और उसका परीक्षण भी किया जाता है। [illegible] [illegible] [illegible] परीक्षाओ का आयोजन भी होता है। पर आश्चर्य [illegible] [illegible] [illegible] देश की बागडोर सभालने वालों के लिए न [illegible] [illegible] [illegible] और न परीक्षण की आवश्यकता है। [illegible] [illegible] [illegible] पर पहुचने वाले लोगों के लिए न कोई [illegible] [illegible]

ऐसे सुधरेगी भारत में चुनाव की प्रक्रिया

शासन चलाने के लिए दो प्रकार की व्यवस्थाएं प्रचलित हैं—राजतत्र और जनतंत्र। राजतंत्रीय व्यवस्था में एक व्यक्ति सर्वेसर्वा होता है। शासन का सूत्र उसे विरासत में मिलता है। उसके सामने योग्यता या अयोग्यता का प्रश्न नहीं होता। वहां उत्तराधिकार की परंपरा चलती है।

जनतंत्रीय व्यवस्था में अंतिम पक्ति में खड़ा व्यक्ति भी राष्ट्राध्यक्ष के पद तक पहुंच सकता है, राष्ट्र का प्रथम नागरिक बन सकता है। शर्त एक ही है, जनता उसे स्वीकार करे। जनता की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए चुनाव की व्यवस्था की गई। किसी दल विशेष के प्रतिनिधि को चुनाव में खड़ा होने का जितना अधिकार है, उतना ही अधिकार किसी दल की सदस्यता स्वीकार नहीं करने वाले को है।

ढाई-हजार वर्ष पहले शासन-संचालन की एक अन्य पद्धति प्रचलित थी, जो गणराज्य व्यवस्था कहलाती थी। उस व्यवस्था में अनेक राजा मिलकर शासनसूत्र सभालते थे। किस समय कौन-सी पद्धति प्रभावी रहती है, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किस पद्धति मे सुव्यवस्था रहती है और जनता के हितों की सुरक्षा होती है।

स्वतंत्र भारत में प्रारम्भ से ही लोकतांत्रिक व्यवस्था चल रही है। देश के संविधान में इसी व्यवस्था को मान्य किया गया है। चुनाव लोकतंत्र की अनिवार्य प्रक्रिया है। प्रश्न यह है कि मतदान का आधार क्या हो? लोकतत्र की व्यवस्था के लिए मतदान का आधार होना चाहिए चरित्रशीलता और गुणवत्ता। जिस व्यक्ति का चरित्र उन्नत हो और नेतृत्व के गुणों की बहुलता हो, वह व्यक्ति सत्ता में आकर राष्ट्रहित या जनहित में कुछ काम कर सकता है। किन्तु जहां मतदान का आधार जातीयता, साम्प्रदायिकता, प्रलोभन आदि वनते हैं, वहा सिद्धान्त ताक पर धरे रह

जाते हैं और भाई-भतीजावाद पनपने लगता है।

जो व्यक्ति पद, प्रतिष्ठा अथवा स्वार्थ की प्रेरणा से चुनाव मे खडे होते हैं, वे जैसे-तैसे चुनाव जीतने का प्रयास करेंगे। चुनाव के साथ अर्थ का अनाप-शनाप व्यय इन्ही विन्दुओं पर किया जाता है। उम्मीदवार के लिए निर्धारित चुनाव-व्यय तो आटे में नमक जितना रह जाता है। जो उम्मीदवार जितना अधिक पैसा बहा सकता है, वह उतने ही अधिक वोट जीत सकता है, इस धारणा के आधार पर पार्टी से अतिरिक्त अन्य स्रोतों से अर्थ खींचा जाता है। ऐसे समय में आर्थिक सहयोग करने वाले भी अपनी अपेक्षाओं की सूची तैयार करके रख लेते हैं। जब भी काम पडता है, उनकी पहली दस्तक उसी व्यक्ति के दरवाजे पर होती है, जो उसके अर्थ-सहयोग का आभारी है। भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर अर्थ यही से मिलेगा, यह सोचकर वह भी उसकी उचित-अनुचित हर माग को पूरा करता जाता है।

यही बात जाति और सम्प्रदाय के साथ जुड़ी हुई है। जव किसी वोटर से पूछा जाता है कि आप वोट किसे देंगे? उसका उत्तर जाति या सम्प्रदाय विशेष में सिमटा हुआ होता है। लोकतंत्र के गले पर छुरी चलाने का सिलसिला यही से शुरू हो जाता है।

चुनाव जीतने का एक माध्यम है प्रचार। प्रचार-कार्यक्रम मे पार्टी की नीतियों का विश्लेषण किया जा सकता है, अपने घोषणापत्र की व्याख्या की जा सकती है, जनहित मे किए जाने वाले कार्यों का व्योरा दिया जा सकता है। पर विपक्षी उम्मीदवार के चरित्र का हनन, गाली-गलौज, अश्लील शब्दो के प्रयोग और हत्या के षड्यत्र जैसे जघन्य उपायो को काम में लेने वाले व्यक्ति सेवा का आदर्श उपस्थित कर सकेगे, यह सोचा भी नहीं जा सकता। ऐसा माहौल ही राजनीति की छवि बिगाड़ता है।

किसी भी विशेष कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने वाले व्यक्ति को प्रशिक्षण दिया जाता है और उसका परीक्षण भी किया जाता है। इसके लिए प्रतिस्पर्द्धा परीक्षाओ का आयोजन भी होता है। पर आश्चर्य इस वात का है कि देश की वागडोर सभालने वालो के लिए न किसी प्रशिक्षण की व्यवस्था है और न परीक्षण की आवश्यकता है। वोटों के गलियारे से सत्ता के शीर्ष पर पहुंचने वाले लोगो के लिए न कोई साधना है और न कोई

तपस्या। ऐसे नवसिखुआ लोग शासनसूत्र हाथ में लेकर भी उसे कब तक संभालकर रख पाएंगे।

वर्तमान परिस्थिति में सारी सत्ता या अधिकार राजनीति के हाथ में हैं। राजनीति में प्रवेश करने वालों को एक साथ इतने अधिकार मिल जाते हैं पर उनके जीवन में मूल्यों को कोई स्थान नहीं मिलता। ऐसे व्यक्ति न तो मूल्यरक्षा के लिए समर्पित होंगे और न राजनीति को स्वच्छ रख पाएंगे। ऐसी स्थिति में उभरने वाली सब समस्याओं की जडें चुनाव की धरती में गाड़ी हुई होती हैं। उन जड़ों को उखाड़ने के लिए चुनाव-प्रक्रिया में सुधार का स्वर उठता है पर चुनाव शुद्धि अथवा चुनाव-प्रक्रिया को बदलने के नारे भी एक प्रकार से चुनावी नारे बनकर रह जाते है। मतदान की उम्र को घटाकर अठारह वर्ष ले जाने से मतदाताओं की संख्या तो बढ़ सकती है पर चुनाव की चालू पद्धति मे परिवर्तन की सभावना नहीं बढ़ सकती।

राजनीति की ऐसी दुरवस्था को देखकर कुछ लोग कह देते हैं कि इससे तो एकतंत्र ही अच्छा। इसी भावना से प्रेरित लोग ब्रिटिश शासन को याद कर सकते हैं। पर यह रोग का उपचार नहीं है। एकतंत्र की लम्बी परंपरा का जिनको अनुभव है, वे जानते हैं कि एक व्यक्ति की इच्छा व्यापक हितो से जुड़ी हुई नहीं होती। सामूहिक हितों को कुचलने की कुचेष्टा के परिणामस्वरूप ही जनतंत्र का आविर्भाव हुआ। जनतंत्रीय व्यवस्था में अधिनायकवादी प्रवृत्ति को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। पर एकतंत्र मे ऐसा कोई भी कदम उठाने का अवकाश नहीं है। जनहित को प्रमुखता देने के कारण जनतंत्र की वरीयता को अस्वीकार नही किया जा सकता। पर इसका अर्थ यह भी नहीं होना चाहिए कि जन-प्रतिनिधियो का आचरण निरकुश हो जाये।

चुनाव के समय मतदाता, मतदान और उम्मीदवार व्यक्तियो के लिए कोई मानदण्ड निश्चित नही है। इसलिए चारों ओर धांधली चलती है। जातिवाद, सम्प्रदायवाद और आर्थिक प्रभाव के अतिरिक्त मतपेटियों को इधर-उधर करना, मतदान-केन्द्रों पर अव्यवस्था करना आदि ऐसी वातें हो गई हैं, जो लोकतंत्र का खुला मजाक कर रही हैं। इससे आगे लोकसभा, राज्यसभा या विधानसभाओं की कार्यवाहियो पर दृष्टिक्षेप किया जाये तो

वहा की स्थिति और अधिक भयावह है। भद्दे गाली-गलौज, कुर्सी उठाना, चप्पल फेकना, धक्का-मुक्की करना, होहल्ला मचाना, चरित्रहनन करना आदि ऐसी प्रवृत्तियां हैं, जो साधारण व्यक्ति के लिए भी लज्जाजनक है। पर देश के दायित्वशील और चुने हुए व्यक्ति विरोध-प्रदर्शन के ऐसे अभद्र तरीके काम मे लेते है तो लोकतत्रीय प्रणाली को भी विवाद के कठघरे मे खड़ा होना पड़ता है। इस समय देश में चुनाव की चर्चा है। आगामी चुनाव में लोकतंत्र का ऐसा भोडा मजाक न हो, इस दृष्टि से सत्तारूढ़ दल, विपक्षी दल तथा चुनाव आयोग--सबको मिलकर कोई ऐसा रास्ता खोजना चाहिए जिससे सबसे बडे लोकतात्रिक देश भारत की गरिमा अक्षुण्ण रह सके।

अणुव्रत हमारे देश का एकमात्र नैतिक आन्दोलन है। देश की आजादी के साथ-साथ इसका सूत्रपात हुआ और देश में नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा हो, इस दृष्टि से अणुव्रत की आचार-सहिता बनाई गई। अणुव्रत की आचार-सहिता मानवीय आचार-सहिता है। इसमे जाति, धर्म आदि की कोई भी वाधा नहीं है। एक सामान्य आचार-सहिता का निर्धारण करने के वाद यह चिन्तन हुआ कि वर्गीय आचार-सहिता भी बननी चाहिए ताकि वर्ग विशेष की बुराइयों को नियत्रित किया जा सके। इस क्रम मे शिक्षक, विद्यार्थी, व्यापारी, श्रमिक-मतदाता, उम्मीदवार आदि अनेक वर्गों के लिए कुछ स्वतत्र नियम बनाए गए। चुनाव के संदर्भ मे मतदाता और उम्मीदवार की आचार-सहिता का पालन हो तो चुनाव-प्रक्रिया स्वय सुधर जाएगी। उसके लिए किसी नये प्रयत्न की अपेक्षा भी नही रहेगी। जानकारी के लिए यहा दोनो वर्गों की आचार-सहिता दी जा रही है--

मतदाता के लिए आचार-संहिता

१ मै रुपये व अन्य प्रलोभन से मतदान नहीं करूगा।
२. मैं जाति आदि के आधार पर मतदान नही करूंगा।
३ मै अवैध मतदान नही करूंगा।
४ मैं चरित्र व गुणो के आधार पर अपने मत का निर्णय करूंगा।
५. मै किसी दल व उम्मीदवार के प्रति अश्लील प्रचार व निराधार आक्षेप नही करूंगा।

६. मै किसी चुनाव-सभा या अन्य कार्यक्रमों में अशान्ति या उपद्रव नहीं फैलाऊंगा।

उम्मीदवार के लिए आचार-संहिता

१. मैं रुपये व अन्य प्रलोभन तथा भय दिखाकर मतग्रहण नहीं करूंगा।
२. मै जाति, धर्म आदि के आधार पर मत ग्रहण नहीं करूगा।
३. मैं अवैध मत ग्रहण करने का प्रयास नही करूगा।
४. मैं सेवाभाव से रहित केवल व्यवसाय बुद्धि से उम्मीदवार नही बनूंगा।
५. मै अपने प्रतिपक्षी उम्मीदवार या दल के प्रति अश्लील प्रचार व निराधार आक्षेप नहीं करूंगा।
६. मैं अपने प्रतिपक्षी उम्मीदवार या दल की चुनाव-सभा या अन्य कार्यक्रमों मे अशान्ति या उपद्रव नहीं फैलाऊंगा।
७. मैं निर्वाचित होने पर बिना पुनः चुनाव के दल-परिवर्तन नहीं करूंगा।
८. मै निर्वाचित होने पर यदि मेरे चुनाव-क्षेत्र के मतदाताओं का मेरे प्रति अविश्वास या असतोष विकसित हुआ और इस सम्बन्ध मे लिये गए मतदान का तीन-चौथाई मत मेरे विरुद्ध हो तो अविलम्ब पदत्याग करूगा।

यह आचार-संहिता एक मॉडल है। इसे आधार मानकर समसामयिक आवश्यक मुद्दो को इसके साथ जोड़ा जा सकता है। यदि देश मे एक वार भी इस विधि से चुनाव होते हैं तो यह अपने आप में एक नया प्रयोग होगा। प्रयोग सफल रहा तो भारत की राजनीतिक छवि सुधरेगी ही, अन्य देशों के लिए भी एक उदाहरण प्रस्तुत होगा। चुनाव-प्रक्रिया के सुधार की चर्चा सुनते-सुनते लोग थक गये हैं। अब तो उन्हें दिखाना है कि ऐसे सुधरेगी भारत में चुनाव की प्रक्रिया।

साधुवाद के लिए साधुवाद

जनवरी १९८७ का 'तीर्थंकर' देखा। उसका सम्पादकीय पढ़ा। वह मन को छू गया। उसकी ठोस सुझावात्मक शैली निर्भीक पत्रकारिता की सूचक है। उसमे कही अतिवाद की झलक भी हो सकती है, फिर भी यह तो निर्विवाद है कि 'तीर्थंकर' एक ऐसा पत्र है, जो निरन्तर धाराप्रवाह रूप में समकालीन विसंगतियों की सही-सही समीक्षा कर रहा है। इसके लिए 'तीर्थंकर' के सम्पादक साधुवाद के पात्र हैं।

कोई भी क्षेत्र हो, धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक—उसकी मीमांसा करना और उसमे उचित सुधार का परामर्श देना एक बार पाठक को आन्दोलित कर देता है, पर इससे बीमारी का सही उपचार नही हो सकता। हमारे समाज की जैसी स्थिति है, विचारों के उत्तेजन मात्र से न तो कोई क्रान्ति घटित हो सकती है और न ही किसी बड़े परिणाम की सभावना की जा सकती है। इसके लिए चिन्तन की जमीन को उपजाऊ बनाकर उसमें सकारात्मक दृष्टि के बीज बोने की अपेक्षा है।

किसी भी प्रसंग पर विचार करने के दो तरीके हैं—सकारात्मक और नकारात्मक। जहां गलत मूल्यो को मान्य करने का प्रश्न हो, वहा नकारात्मक दृष्टिकोण का अपना महत्त्व है। अस्वीकार की शक्ति ही व्यक्ति को प्रवाहपातिता में जाने से रोक सकती है। किन्तु इसके द्वारा कोई सृजनात्मक उपलब्धि नही हो सकती। सृजनधर्मिता को विकसित करने के लिए सकारात्मक ढंग से देखने और सोचने की जरूरत है मेरा निजी अनुभव है कि सकारात्मक नजरिया व्यक्ति, समाज और राष्ट्र मे नई चेतना भर सकता है।

सम्पादक महोदय ने जो कुछ लिखा है, किसी सम्प्रदाय

लक्षित करके लिखा है, ऐसा प्रतीत नही होता। वास्तव में पत्रकार किसी सम्प्रदाय के होते भी नहीं है। उन्होंने जैन साधु संस्थाओ में प्रवेश पा रही अथवा पनप रही विकृतियों की ओर अंगुलिनिर्देश करके जागरूक वफादारी का परिचय दिया है। उनके विचारो को पढ़कर जो प्रतिक्रियाएं उभरीं, उनको प्रस्तुत किया जा रहा है—

परिवर्तन का जहां तक सवाल है, सवा दो सौ वर्षों की अवधि में तेरापंथ मे जितने भी परिवर्तन-संशोधन हुए हैं, मर्यादाओं की मौलिकता को अक्षुण्ण रखकर ही हुए हैं। कोई साधु-साध्वी तो क्या, आचार्य भी अपनी मानसिकता या सुविधा के आधार पर प्राचीन मर्यादा को छोडकर नई परम्परा स्थापित नहीं कर सकते। शास्त्रीय मर्यादाएं ही तो वह शलाका है, जिसके आधार पर साधुता का मापन किया जा सकता है।

तेरापंथ मे किसी नये परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है या यहां किसी प्रकार का प्रमाद नही होता है, ऐसा मिथ्या अहं कतई वांछनीय नहीं होगा। हमारे दृष्टिकोण में न तो कोई पूर्वाग्रह है और न ही है किसी प्रकार की निराशा। जहां कही हमें परिवर्तन की अपेक्षा अनुभव होती है, गंभीर चिन्तन के साथ हम एक निर्णय पर पहुंच जाते है। वह निर्णय पूरे धर्मसंघ मे लागू हो जाता है। एक आचार्य का नेतृत्व होने के कारण संघ को एकरूपता देना और एकसूत्रता में बाधकर रखना हमारे लिए सहज संभव है।

दीक्षा को लेकर तेरापथ मे कोई समस्या नहीं है। पारमार्थिक शिक्षण संस्था के अस्तित्व में आने के बाद तो शिक्षा एव साधना सम्वन्धी परिपक्वता की बात भी सहज फलित हो गई। दीक्षा की जैसी सतुलित, व्यवस्थित और प्रायोगिक पद्धति हमारे यहां प्रचलित है, उससे मुझे पूरा सन्तोष है। युगीन परिस्थितियो को देखते हुए हमने दीक्षा के क्षेत्र में एक नया प्रयोग किया। वह प्रयोग है 'समणश्रेणी'। इस श्रेणी में दीक्षित 'समण-समणियो' की क्षमता एवं उपयोगिता ने अच्छे-अच्छे विद्वानों को प्रभावित किया है।

धर्म को वुद्धिजीवियो से जोडने के लिए हमने धर्म को नये सन्दर्भों में व्याख्यायित किया। अणुव्रत इसका स्पष्ट निदर्शन है। इसके द्वारा धार्मिकों को सही अर्थ में धार्मिक वनाने अथवा इन्सान को सच्चा इन्सान वनाने

का हमारा कार्यक्रम लोकप्रिय ही नहीं, काफी प्रभावी वना है।

धर्म और राजनीति के सम्बन्ध मे भी हमारा चिन्तन बहुत साफ है। राजनीति के लोग धर्म के मंच से जुड़ें ही नही, इस अलगाव की नीति से मैं सहमत नही हूं। वे लोग भी धर्म-गुरुओं के पास आकर नीति एवं चरित्र की सीख लें तो इसमें किसे आपत्ति हो सकती है? धार्मिक आयोजन की सफलता उनके आने से ही हो, यह मानना दृष्टिकोण का मिथ्यात्व है। हमें धर्म में राजनीति को नही घुसने देना है, पर धर्म के द्वारा राजनीति के चरित्र को निर्मूल बनाने का प्रयत्न करना है।

बौद्धिक लोगो के साथ सम्पर्क-सूत्र जोडने के साथ ही हमने अपने साधु-साध्वियों को दर्शन और विज्ञान के आधुनिकतम अध्ययन के लिए प्रेरित किया। यदि हम जैनत्व को लोक-जीवन में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो उसके अध्ययन-अध्यापन पर बल देना ही होगा। ज्ञान-विज्ञान की युगीन शाखाओ से परिचित हुए बिना आज की प्रबुद्ध पीढ़ी को बोध देना सभव ही नही है। इस दृष्टि से साधु-साध्वी तुलनात्मक अध्ययन में संलग्न हो गए।

अध्ययन-अध्यापन का मूलभूत आधार है स्वाध्याय। स्वाध्याय के विना न तो नया ज्ञान प्राप्त होता है और न ही पूर्व प्राप्त ज्ञान का सम्यक् उपयोग हो सकता है। ध्यान भी साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ध्यान-स्वाध्याय की प्रवृत्ति को वल देने के लिए हमने काफी प्रयत्न किए है। हमारा साहित्य और प्रेक्षाध्यान की परम्परा इसके स्वयंभू साक्ष्य हैं। स्वाध्याय की प्रवृत्ति को वढाने के लिए ही हमने मर्यादा महोत्सव के अवसर पर इस वर्ष को 'स्वाध्याय वर्ष' के रूप में मनाने की घोषणा की। स्वाध्याय योग का यह क्रम साधुता को समझने और जीने में भी पूरा कार्यकारी बन सकता है।

विश्वविद्यालयीन डिग्रियो को लेकर हमारे यहां कोई प्रतिस्पर्धा नही है। साधुओ के लिए उनका कोई मूल्य भी नहीं हैं। इसी दृष्टि से हमने अपना पूरा पाठ्यक्रम स्वतत्र रूप से निर्धारित किया है।

पुस्तक-प्रकाशन की आकांक्षा या स्पर्धा साधुओं मे न जगे, यह उचित है। पर इसका अर्थ यह नही है कि वे अपनी सृजनधर्मिता को कुठित कर दे। साहित्य समाज की जरूरत है। धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य नही

होगा तो समाज के युवा एवं किशोर पढ़ेंगे क्या? प्रतिभा को स्फुरणा मिले और समाज को सत्साहित्य मिले, इस दृष्टि से साहित्यकार साधु-साध्वियों को सलक्ष्य सृजन करना चाहिए।

हमने अपने साधु-साध्वियों को लिखने के लिए उत्प्रेरित किया। यह जरूर है कि उनके लेखन के साथ प्रकाशन की प्रतिबद्धता नहीं है। हमारे यहां एक 'साहित्य समिति' है। साधु और साध्वियों दोनों का उसमें प्रतिनिधित्व है। समिति द्वारा निर्धारित मानकों पर सही उतरने और उससे मान्यता मिलने के बाद ही कोई साहित्य बाहर आ सकता है। इस क्रम के दो फलित हैं—साहित्यिक प्रतिभाओं को निखरने का पूरा अवकाश मिलता है और साहित्य-प्रकाशन पर पूरा नियंत्रण रहता है।

तेरापंथ धर्मसंघ में कुछ पारम्परिक उत्सव मनाए जाते है और कुछ नये महोत्सव भी आयोजित होते हैं। इनके पीछे हमारा दृष्टिकोण नितान्त सृजनात्मक रहता है। छः वर्ष पहले हमने जयाचार्य निर्वाण शताब्दी मनाई। उस बहाने से साहित्य का बहुत बड़ा काम हो गया। 'निज पर शासन, फिर अनुशासन' यह नारा भी उसी वर्ष लोकप्रिय बना। इससे लोक-चेतना में अनुशासन के प्रति आस्था जगाने का प्रयत्न किया। पिछले वर्ष हमने 'अमृत महोत्सव' मनाना स्वीकृत किया। उसे निमित्त बनाकर जप, तप और राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण के पांच संकल्पो का जो विस्तार हुआ, वह हमारी आध्यात्मिक और चारित्रिक निष्ठा का संवाहक बन गया। शिक्षा में जीवन-विज्ञान का प्रयोग करने की दृष्टि से भी उस अवसर पर एक ठोस अभियान चलाया गया।

अव हमारे सामने एक नई योजना आयी है। हमारे पचहत्तरवे वर्ष को बहाना बनाकर वह योजना बनी है। उसका मुख्य लक्ष्य है—धर्मसंघ का आन्तरिक निर्माण। १६८६ के उस वर्ष को हम एक प्रशिक्षण प्रयोग वर्ष के रूप में मनाने की सोच रहे हैं। यदि उस समय से हम अपने साधु-साध्वियों को आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक तेजस्वी वना सके और श्रावक समाज मे अहिंसक जीवन-शैली विकसित कर सके तो वह आने वाली शताव्दी के लिए एक स्मरणीय उपलव्धि हो सकेगी।

साध्य-साधन की पवित्रता के सम्बन्ध में जो विचार आए है, वे काफी

गंभीर है। साधु जीवन के लिए उपयोगी अनेक धर्मोपकरणो का निर्माण साधु-साध्वियां स्वयं कर सकते है, करते भी हैं। इस सन्दर्भ में पूरे सोच-विचार के साथ कुछ नई परम्पराओ को स्थापित किया जा सकता है।

साधु जीवन के लिए एक निश्चित 'आचार-संहिता' का निर्धारण मेरा दीर्घकालिक सपना है। भगवान् महावीर के पचीससौवें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर दिल्ली में सब सम्प्रदायों के प्रतिनिधि आचार्य और साधु-साध्वियां मिले थे। वहां एक प्रयत्न हुआ था। उसके परिणामस्वरूप जैन-धर्म का 'एक ग्रन्थ, एक ध्वज और एक प्रतीक' मान्य हो गया। पर एक सवत्सरी और एक आचार-संहिता की बात छूट गई, जो अब तक पूरी नहीं हो सकी है।

जैन समाज की एकता के लिए मेरे मन में गहरी वेचैनी है। गत वर्ष उदयपुर में मैने जैन समाज के वरिष्ठ लोगो की उपस्थिति मे अपनी बेचैनी प्रकट भी की थी। मैं चाहता हूं कि प्राथमिक रूप मे हम तीन विन्दुओ पर विचार करें—

- जैनो का एक सर्वमान्य मंच।
- संवत्सरी महापर्व की एकता।
- जैन मुनियो की एक निश्चित आचार-सहिता।

'तीर्थंकर' के सपादक महोदय से ही मेरा यह सीधा सवाल है कि जेनत्व की अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिए क्या इन विचारो के साथ आपकी सहमति है? यदि आप सकारात्मक रूप से इस विचार-यात्रा मे सहयात्री है तो हमे आप जैसे निर्भीक कार्यकर्ताओ की जरूरत है केवल आप ही नहीं, आपकी पूरी टीम एक-दो वर्ष के लिए पूरे मन से और योजनाबद्ध ढग से इस काम में जुड जाए तो बड़ा काम हो सकता है। यह आवश्यक नही है कि आपके सब विचार हमे मान्य हों और हमारे सब विचारों से आप सहमत हो। किन्तु यह तो आवश्यक है कि हम एक ऐसा सामूहिक प्रयत्न करें, जो साधु समाज और श्रावक समाज की जर्जर आस्थाओं को हिलाकर, उखाडकर ऐसी आस्था का निर्माण कर दे जो जेनत्व की सच्ची पहचान बन सके और समाज के चरित्र को उज्ज्वलता दे सके।

अणुव्रत का नया अभियान : बुराइयों के साथ संघर्ष

अणुव्रत एक नैतिक आन्दोलन है। 'संयमः खलु जीवनम्' अणुव्रत का घोष है। देश में नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा अणुव्रत का लक्ष्य है। व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन मे नैतिकता का अवतरण इस लक्ष्य तक पहुंचाने की प्रक्रिया है। नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था का जागरण एक रास्ता है। मनुष्य सही अर्थ में मनुष्य बनकर जीये, यह अणुव्रत का फलित है। चार दशक पहले अणुव्रत आन्दोलन अस्तित्व में आया। उस समय भी इसकी उपयोगिता और स्वरूप पर प्रश्नचिह्न लगे थे। आज भी कभी-कभी यह स्वर सुनाई देता है कि अणुव्रत की क्या प्रासगिकता है?

डॉ॰ नगेन्द्र के अनुसार प्रासगिकता का यह प्रश्न तीन-चार दशको से अधिक उभरा है। यह प्रश्न उभारा अंग्रेजी के आधुनिक कवियो ने । इसका कारण था अपने कृतित्व की स्थापना। इसलिए पूर्वर्ती सिद्ध कवियों के सन्दर्भ में यह कहा गया कि वर्तमान में उनकी क्या प्रासंगिकता है? यह प्रश्न कभी महावीर के साथ जुडता है, कभी गांधी के साथ जुडता है, कभी प्रसाद के साथ जुडता है और कभी किसी के साथ। व्यक्तियों की भांति सिद्धान्त और कार्यक्रम भी इसकी चपेट में आ गये। फलतः अणुव्रत के साथ भी यह प्रश्न जुड़ गया।

प्रासंगिकता बनाम सार्थकता

दो प्रकार के तत्त्व होते है—शाश्वत और सामयिक। शाश्वत तत्त्व हर युग मे उपयोगी होते हैं। देश और काल की सीमाए उनकी उपयोगिता में वाधक नही वनतीं। ऐसे तत्त्वों की प्रासंगिकता के सम्वन्ध मे कभी कोई प्रश्न नहीं उठता। प्रासंगिक शब्द के दो अर्थ है—सार्थक और गौण। जहां साथ-साथ दो वाते घटित होती हैं, वहां मुख्य-गौण का सवाल उठता है।

किसान खेती करता है। खेत में अनाज होता है। अनाज के साथ भूसी भी होती है, यह उसका प्रासगिक फल है। व्यक्ति धर्म की साधना करता है। इससे निर्जरा होती है। निर्जरा के साथ पुण्य का बन्धन होता है। यह साधना का प्रासंगिक फल है। ऐसी प्रासंगिकता के साथ अणुव्रत की मीमांसा का कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु जहां प्रासंगिकता शब्द को सार्थकता के साथ जोड़ा जाता है, वहां प्रतिप्रश्न यह खड़ा होता है कि सार्थकता किसकी? अणुव्रत की या अणुव्रत आन्दोलन की?

अणुव्रत शाश्वत तत्त्व है। भारतीय दर्शन मे व्रत की चेतना को विशेष स्थान प्राप्त है। कोई भी धर्म दर्शन, व्रत, नियम या संकल्प की चेतना के विना व्यापक नहीं बन सकता और अपनी उपयोगिता भी सिद्ध नही कर सकता। आन्दोलन का जहां तक सवाल है, वह ठहराव को तोड़ने के लिए होता है। जब अपेक्षा होती है, आन्दोलन तीव्र हो जाता है और अपेक्षा नही रहती तब उसकी गति मद हो जाती है। अणुव्रत आन्दोलन अपने अस्तित्वकाल में जिस तीव्र गति से चला , वह मन्द अवश्य हुई है पर उसकी आवश्यकता चार दशक पहले जितनी थी, आज तक कम नहीं हुई है।

अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन करते समय देश के सामने जैसी परिस्थियां थीं, उनमे बहुत बडा सुधार हो गया हो, ऐसा प्रतीत नही होता। जिन लोगो ने अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार की, उनके जीवन में बदलाव अवश्य आया है, पर कुछ हजार व्यक्तियों के बदलने से अस्सी-नब्बे करोड़ की आबादी वाले पूरे देश में परिवर्तन की कल्पना कैसे की जा सकती है? लाखो व्यक्ति आज भी अणुव्रत को मानसिक समर्थन दे रहे हैं, पर मै इसे बहुत अधिक मूल्यवान नहीं समझता। मूल्यवत्ता है विचारों के अनुरूप आचरण की। सार्वजनिक या धार्मिक मंच पर नैतिक मूल्यो का गुणगान करने वालों का अपना जीवन मूल्यहीनता का साक्षी बनता हो, वहां केवल गुणगान से देश या समाज को क्या लाभ मिलता है?

इस युग की समस्याएं

जैसे-जैसे समय बीत रहा है, अणुव्रत की उपयोगिता बढ़ती जा रही है।

कोई इसको चलाए तो यह चलेगा और नहीं चलाए तो भी यह समाप्त होने वाला नहीं है। इसमें ऐसे त्रैकालिक तत्त्व हैं, जो मनुष्य जाति के अस्तित्व के साथ जुड़े हुए हैं। जब तक मनुष्य है और जब तक वह समस्याओं से आक्रान्त है, उसे समाधान खोजना होगा। समस्याओं के अनेक रूप है। उनमें आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक समस्याएं मुख्य हैं। अप्रामाणिकता, मिलावट, तोल-माप की कमी, तस्करी आदि का संबंध आर्थिक भ्रष्टाचार से है। दहेज, मृत्युभोज, बालविवाह, भ्रूणहत्या, कन्याहत्या आदि समस्याओं की पृष्ठभूमि में सामाजिक मानदण्ड सक्रिय हैं। चुनाव संबंधी अव्यवस्था, रिश्वत, दलबदल, चरित्रहनन आदि राजनीतिक समस्याएं है। जातिवाद, संप्रदायवाद, छुआछूत आदि का संबध धर्म के साथ जोडा जा रहा है। आतंकवाद में सम्प्रदायवाद और राजनीति— दोनों का मिश्रण है। पारिवारिक टूटन, खाद्य-पेय की शुद्धि का अभाव, मादक पदार्थ, सेवाभावना की कमी आदि सास्कृतिक समस्याएं हैं। इन समस्याओं का प्रभाव व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सब पर हो रहा है। इनसे आर्थिक और राजनीतिक संकट के साथ-साथ शान्ति, स्वास्थ्य और मनुष्यता का ह्रास होता जा रहा है।

अणुव्रत की पांख : प्रेक्षा की आंख

मनुष्य शक्ति-संपन्न और विवेक-संपन्न प्राणी है। उसे अपनी शक्ति और विवेक का सहारा लेकर समस्या का सामना करने और उसका समाधान पाने के लिए सकल्पित रहना चाहिए। समाधान के दो रूप हो सकते हैं—आपत्कालीन और दूरगामी या स्थायी। आपत्कालीन समाधान व्यक्ति और समाज के स्तरों पर अलग-अलग खोजा जा सकता है। स्थायी समाधान के लिए सवसे पहले यह देखना होगा कि समस्या को उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी कौन है? राजनीति, सामाजिक परंपराए, धर्मगुरु, शिक्षा, अभाव, अतिभाव, अज्ञान आदि कारणों मे जो कारण प्रवल हो, उसको सपूर्ण रूप से उखाड़ना आवश्यक है। उसके साथ अणुव्रत की मूल आचार-सहिता और वर्गीय आचार-संहिता को ध्यान में रखकर उसके अनुरूप जीवन को मोड़ देना जरूरी है। मोड़ देने के लिए अणुव्रती वनना

होगा और व्रत को आत्मसात् करने के लिए प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करना होगा।

अणुव्रत मनुष्य को दिशा-दर्शन देता है कि वह अनर्थ हिंसा से बचे, बेईमानी छोडे, नशा छोड़े, गुस्सा कम करे, सहिष्णुता बढ़ाए। प्रश्न यह है कि क्या दिशा-दर्शन मिलने मात्र से व्यक्ति यह सब कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर है प्रेक्षाध्यान। दिशा मिले, संकल्पशक्ति जागे, नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था जागे और ध्यान के अभ्यास से वृत्तियां बदले। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान एक-दूसरे के पूरक हैं। कोई व्यक्ति प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करे और अणुव्रतों का पालन न करे, यह संभव नही लगता। ध्यान करने वाले के लिए ऐसी पृष्ठभूमि आवश्यक है जो व्यक्ति को अणुव्रती बना सके। इसी प्रकार जो व्यक्ति अणुव्रती है, उसे अपने संकल्पों के अनुसार जीवन को ढालने के लिए प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करना ही होगा। अणुव्रत की पांख और प्रेक्षा की आख पाकर ही व्यक्ति अपने संकल्पों के आकाश मे उडान भर पाएगा।

अणुव्रत का नया अभियान

अणुव्रत चालीस वर्षों की यात्रा पूरी कर रहा है। इस यात्रा मे वह कहां-से-कहा तक पहुंचा है, सबके सामने है। इस अवधि में कितने लोग अणुव्रती बने, कितने लोगों का जीवन बदला, कितने लोग व्यसन-मुक्त बने, आकडो की प्रस्तुति संभव नही है। पर इतना बताया जा सकता है अणुव्रत के सम्बन्ध मे प्रचार-यात्रा काफी हो चुकी है। व्यक्तिगत स्तर पर अणुव्रत का पालन करने वाले भी हजारों की संख्या में हैं। किन्तु सामाजिक मूल्यमानको में बदलाव की बात पूर्णता के बिन्दु तक नही पहुच पायी है। इसके लिए अणुव्रत का नया अभियान होगा—बुराइयों के साथ संघर्ष। यह यात्रा कब हो? कैसे हो? कहां हो? कहां से हो और इसका प्रारंभ कौन करे? इन प्रश्नो के संदर्भ में प्रस्तुत अधिवेशन में चिन्तन करना है।

अणुव्रत का यह सौभाग्य है कि इसे अच्छे-अच्छे कार्यकर्त्ता मिले हैं। धर्म, जाति आदि बन्धनो को तोड़कर अणुव्रती कार्यकर्त्ताओं ने काम किया है। कुछ कार्यकर्त्ता तो अपना संपूर्ण जीवन अणुव्रत के साथ

जोड़कर जी रहे हैं। अनेक अणुव्रत-प्रवक्ता हैं, जो अणुव्रत दर्शन को बहुत अच्छे ढंग से समझा सकते हैं। इन सबके साथ हमारे सैकडों साधु-साध्वियों की सेना देश के इस छोर से उस छोर तक अणुव्रत का सन्देश पहुंचाने में सतत संलग्न है। आज तक हुए काम से मै असंतुष्ट नहीं हूं। पर मैं चाहता हू कि अणुव्रत का कार्यक्रम व्यापकता के साथ-साथ कुछ समस्याओं पर केन्द्रित होकर काम करे। उदाहरण के लिए मैं चार समस्याओ की ओर इंगित कर रहा हूं--पर्यावरण, दहेज, चुनाव, जातीयता एवं आतंकवाद।

अखिल भारतीय अणुव्रत समिति के ३७ वे अधिवेशन मे समवेत अणुव्रती कार्यकर्त्ता उक्त समस्याओं को हाथ में लें और इसके समाधान हेतु पूर्ण अहिंसानिष्ठ पर आक्रामक तरीके काम में ले। अणुव्रत के द्वारा युग की ज्वलंत समस्याओ को दूरगामी एवं स्थायी समाधान मिले, मेरी इस आकांक्षा को लोग समझे। इस काम को आगे बढ़ाने में साधु-साध्वियों का सहयोग लें, आगामी योगक्षेम वर्ष में अणुव्रत के प्रशिक्षण और प्रयोग को अधिक व्यापकता दे और इसे सही अर्थ में मानव या सार्वभौम समाधान की प्रतिष्ठा दें, यह काम विश्व-मानव की सेवा का एक बडा उपक्रम हो सकता है।

लेखक की प्रमुख कृतिया

समता की आख : चरित्र की पाख
मुखड़ा क्या देखे दरपन मे
जब जागे तभी सवेरा
लघुता से प्रभुता
बूद भी लहर भी
मेरा धर्म . केन्द्र और परिधि
गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का
खोए सो पाए
दोनो हाथ एक साथ
राजपथ की खोज
कुहासे मे उगता सूरज
बीती ताहि बिसारि दे
अतीत का विसर्जन अनागत का स्वागत
क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?
प्रेक्षा : अनुप्रेक्षा
सफर . आधी शताब्दी का
जीवन की सार्थक दिशाए
कालयशोविलास
सोमरस
माणक महिमा
डालिमा चरित्र
मगन चरित्र
चन्दन की चुटकी भली
भरत मुक्ति
पानी मे मीन पियासी
अणुव्रत गीत
अणुव्रत . गति-प्रगति
अणुव्रत के आलोक मे
अनैतिकता की धूप अणुव्रत की छतरी
मनोनुशासनम्
जैन सिद्धान्त दीपिका
हस्ताक्षर
आदि-आदि